

"नानी, मामा के लड़के को गोद में लिये बैठी थीं। उन्होंने कुत्ते को दुत्कारा। वे जानवरों की छूत मनाती थीं। कुत्ता पूँछ नीची कर निकल गया। उसे दुत्कारे जाने की आदत थी। मुझसे कहा गया कि पैर छुओ, ऐसे नहीं, ऐऽ सेऽ। अरे, लड़की का जनम है और ज़िन्दगी भर झुकना है तो सीऽख ही लो।"

मृणाल पांडे



पाँच बेहतरीन कहानियाँ

पाँच बेहतरीन कहानियाँ

मृणाल पांडे

रूबी



उनके घर तक पहुँचने के लिए यूँ तो एक ढंग का रास्ता भी था, पर हम लोग अधिकतर थूहड़भरे पिछवाड़े के चढ़ाईदार रास्ते से ही उधर जाना पसन्द करते थे। वह दुबली-पतली पगडंडी कई नामहीन, गठीली काँटेदार झाड़ियों और झक्कड़ जंगली घास से इस क़दर पटी हुई थी कि ऊपर पहुँचते-पहुँचते हमारे कपड़े एक तीखी कसैली बास से रच जाते, और हमारी लम्बी-दुबली टाँगों पर सफ़ेद से गुलाबी पड़ती खरोंचों का एक जाल-सा बिछ जाता था। ख़ैर, उस वक़्त यह हम लोगों ने नोट नहीं किया था, और न ही रूबी ने कभी ऐसा जाहिर किया कि उसने किया हो। वैसे भी उसके जैसे लोग दूसरों के खिसकने इलास्टिकवाले पुराने मोजों और उनके ऊपर उभरी भोंडी खरोंचों पर ज्यादा ध्यान नहीं देते—कम-से-कम हमारे जैसे जो हों। वैसे यह बात भी उस वक़्त हमारे ख़याल में नहीं आयी थी। बहरहाल बिल्लू और मैं बकरियों की सफ़ाई और फुर्ती से वह जोखिमभरा रास्ता तय करते हुए तकरीबन रोज़ ही वहाँ जा धमकते थे। कभी-कभी बतौर तोहफ़े के हम लोग

नौकरानी पर आदतन बरसने लगीं और वह आदतन अनसुनी कर फ़र्श पोंछती रही। यह रोज़ की ही बात थी। हम दोनों उकताकर बाहर बरांडे में निकल आये। अच्छा, अमरीकी कम्पनी के हैं, तो अमरीका में भी रह चुके होंगे, नहीं? ज़रूर, इसमें क्या शक! बिल्लू ने ड्रॉअर से वह दियासलाई की डिबिया निकाली, जिसमें तितली की एक झल्ली एक रेशमी लबादे में लिपटी पड़ी थी, "कल इसको लेकर ऊपर चलेंगे, अच्छा!"

दूसरे दिन कोई छुट्टी थी, सो सुबह-सुबह ही हम दोनों वहाँ जा पहुँचे थे। फिर दूसरे, फिर तीसरे, फिर रोज़ ही बिना नागा एक चक्कर वहाँ का लग जाता था। "रूबी, इन लोगों को कुकीज़ दो तो," महिला ने रूबी से कहा था। कुकीज निकलीं बादाम के बढ़िया करारे बिस्किट। शायद अमरीका में बिस्किट्स को कुकीज़ कहते होंगे। हम लोग जब खाते-खाते रूबी से बात कर रहे थे, तो वे दो-तीन बार अन्दर आकर स्नेहिल बातें भी कर गयी थीं। बिल्लू और मैं लोट!

रूबी उन्हें ममा कहती थी। मम्मी, ममी, मम्मा वगैरह तो हमने काफ़ी सुना था, पर इन अन्य शब्दों की चापलूस अंग्रेजियत से परे यह सीधा-सादा शब्द ममा हमें बहुत अच्छा लगा था। हालाँकि उसे कहने से जो तसवीर आँखों में आती थी, वह रूबी की ममा की ही थी हमारी अम्मा की नहीं, जिनकी उँगलियों पर हाथ धोने के बावजूद आटे या बेसन के सिवईनुमा क़तरे प्रायः चिपके रह जाते थे, जिनकी ब्लाउज़ की बाँहों तले पसीने के बेरंग अर्द्धचन्द्राकार नमूने सदा बने रहते थे और एड़ियों पर बिवाइयाँ। बिल्लू का और मेरा ख़याल था कि रूबी की ममा सोती भी होंगी, तो राजकुमारियों की तरह हल्की खुमारी से भरी हुई एक करवट पर। खर्राटा तो दूर, वे तो ज़ोर की छींक आने से पहले ही उसे नाजुक से एक लेस लगे रूमाल से ऐसे छेंक लेती थी कि वह विकराल छींक जो हमारी माँ के असम्भ्रान्त नथुनों से एक विराट हाक्-छींऽ बनकर फूटती, एक मधुर 'च्याऊँ'

बनकर रह जाती थीं। वे लोग बोलते भी तो ऐसे धीमे मृदु सुरों में कि लगता जैसे फुसफुसा रहे हों, जबकि बिल्लू और मैं हँसते तो लगता कि जैसे दीवारें थर्रा जाएँगी। हमारी माँ भी ज़ोरों से खुलकर हँसने की आदी थीं और अकसर अपनी ताज़ा लिखी कहानी बाबूजी को सुनाते वक़्त कोई मज़ेदार अंश आने से पहले खुद हँसती-हँसती दोहरी हो जातीं। हमारे घर का यह अलिखित क़ायदा था कि अम्मा की कोई भी नयी कहानी हम लोग तब तक क़तई नहीं पढ़ सकते थे, जब तक कि वह बाबूजी को पढ़कर न सुनायी जाये। इस घटना-दुर्घटना से बिल्लू और मैं काफ़ी घबराते थे, क्योंकि यह निश्चित था कि कहानी सुनकर बाबूजी कुछ आलोचनात्मक जुमले कहेंगे और फिर अम्मा तन्नाकर भीतर चली जाएँगी और कुछ देर बाद लाल चुकन्दर-सी नाक लिये बुदबुदाती हुई प्रकट होंगी कि आगे से वह पढ़कर सुनाने के बजाय कहानी फाड़कर फेंक...फिर धड़ से तीसरी दराज़ खुलती और कुछ दिनों को कहानी उसमें फेंक दी जाती थी। इस रत्नगर्भा दराज में नेल-कटर और चेकबुक से लेकर चूड़ियों और जूते के स्पेयर फीतों तक सब ढूँढ़ने पर पाए जा सकते थे। फिर दो-चार दिन अम्मा-बाबूजी की बोलचाल बन्द रहती, पाँचवे दिन दराज़ खुलती और स्कूल से लौटकर हम अम्मा को महातन्मयता से काग़ज़ों पर झुका हुआ पाते। अगले रोज़ एक मोटा लिफ़ाफ़ा रजिस्ट्री को तैयार हो जाता। यह सारा व्यापार हमारे बचपन का ऐसा सहज अंग हो चुका था कि हमने कभी कल्पना तक नहीं की थी कि कहीं जीवन एक भिन्न ढंग से भी घटता, घट सकता होगा, कम-से-कम रूबी से मिलने तलक।

रूबी ने हमें भेद भरे स्वर में बताया था कि जब उसकी ममा नानाजी के साथ लन्दन में रहकर पढ़ रही थीं तो उस वक़्त उन्होंने कई कविताएँ लिखी थीं, जिनको एक प्रख्यात यूरोपीय लेखक ने बहुत सराहा था। उसने बहुत रहस्यमय अन्दाज़ से हमें वह काली चमड़े की जिल्द की डायरी दिखाई थी, जिसमें वे कविताएँ लिखी हुई थीं।

सूटकेसों में असंख्य एयरलाइंस के अन्तर्राष्ट्रीय बिल्ले तमगों की तरह जड़े हुए थे। उनके अधिकांश जूते-कपड़े सब विदेशी थे। हमारे पुराने दर्जी ने बताया था (जो सालों से हमारे लिए स्कूल की भोंडी पोशाकें सी रहा था) कि—"उनकी कमीज़ के कफ पर चार-चार बटन लगे हैंगे, बहूजी। उस दिन रजाई जैसा कपड़ा दे गये थे ड्रेसिंग गाउन सिलने को—अहाहा हाथ लगाने से...!"

"तब तो तू हमारे कपड़े वक़्त पर देने से रहा"—अम्मा ने उसे एडवांस की अनावश्यक रूप से मोटी रक़म देते हुए कहा था। हमारे घर के प्रायः सारे नौकर-चाकर चार-छह महीने की एडवांस तनख़ाह ले जाते थे। हर बार अम्मा क्रोध का नाट्य करती हुई उन्हें धमकाती और एलान करती कि आगे से एक कौड़ी नहीं देंगी, पर फिर अगली पहली की रक़म उन्हें पकड़ा दी जाती, तो बाबूजी सिर हिलाकर एक अंग्रेज़ी कहावत दुहराते, 'बेवकूफ़ और उसके धन का बिछोह जल्द ही हो जाता है।' और हम सब हँस पड़ते। हमारे घर के अन्य नाटकों की तरह यह भी बेहद मौसमी और सामान्य-सी चीज़ थी जिसके घटते ही हम उसे भूल जाते थे।

रूबी की ममा बाहर बहुत कम निकलती थीं, क्योंकि उन्हें बहुत तरह की 'एलर्जी' थीं—धूल की, घोड़े की लीद की, नये फूलों के पराग की, अंडे की जर्दी की। इन चीज़ों का स्पर्श होते ही उन्हें तड़ातड़ छींकें आने लगतीं और चेहरे, हाथ-पाँव पर लाल दाने-से निकल आते; उनकी आँखों से पानी बहना चालू हो जाता या साँस फूलने लगती। फिर वे कोई तेज-सी दवा लेकर दिन-भर को अपने कमरे में बन्द हो जातीं और रूबी, बिल्लू और मैं फुसफुसाते हुए दबे पाँव घर में इधर-उधर डोलते रहते। रूबी को तो धीमे बोलने में, जाहिर है, कोई ख़ास कोशिश नहीं करनी पड़ती थी, पर अपनी बुलन्द आवाजों को दबाते-दबाते बिल्लू और मेरे जबड़े कुछ ही देर में थक जाते थे और झाड़ियाँ फलाँगते हम लौट आते।

पर इस सबके बावजूद यह आना-जाना हमारी ही ओर से होता

था, रूबी की ओर से नहीं। हमारी बाल-बुद्धि ने यह जल्दी ही भाँप लिया था कि हमारा इधर ऊपर आना जितने सुभीते का है, रूबी का नीचे हमारे घर आना नहीं। एक तो रूबी के कहीं बाहर जाने की बात आते ही उसकी ममा बेतरह व्यग्र हो उठती—पहले उसे कपड़े बदलने होते, फिर उसके गज़-गज़ लम्बे बाल ब्रश किये जाते, फिर जूते-मोजे, फिर उसे पचीसों हिदायतें दी जातीं कि ठंडे फ़र्श पर न बैठे, बगैर उबाला पानी न पिये, झाड़ियों वाले रास्ते से नीचे न उतरे, वगैरह। फिर यही होता कि हम लोग कहते—छोड़ो भी। और इस सबके अलावा हमारे दिमाग़ में यह दबा डर तो रहता ही कि कहीं रूबी या उसकी ममा के सामने हमारे खाना पकाने वाले महाराज और हमारी कलहप्रिया नौकरानी उलझ न पड़ें। हमारे घर के ये पुराने नौकर अपनी साफ़गोई के लिए प्रसिद्ध थे। गालियाँ उनकी बातचीत में ऐसे सहज ढंग से बैठती थीं कि कई साल तक बिल्लू और मैं उन्हें बोलचाल के सामान्य शब्दों की तरह इस्तेमाल करते रहे थे। पर इधर जब से रूबी के घर हमारा आना-जाना शुरू हुआ था, तो बातचीत में ऐसी कोई बेअदबी हमें बहुत काट जाती थी। रूबी के माता-पिता अपने सारे चुप्पेपन के बावजूद एक-दूसरे के प्रति अपने बर्ताव में कहीं कोई ऐसा अक्खड़ खुरदुरापन नहीं आने देते थे। न कभी हमने उन्हें ऊँची आवाज़ में एक-दूसरे से बोलते सुना, न ही उनके हावभावों में हमारे माँ-बाबूजी की-सी अन्तर्मुखी व्यस्तता जाहिर होती थी, मसलन जब-बाबूजी दफ़्तर जाते वक़्त अपने दूरबीननुमा पाजामों के घेरे और मुसड़े कुर्ते-बनियानों की छोटी-छोटी ढेरियाँ कमरे में छोड़ जाते थे या खाना मेज़ पर आने पर बिल्लू या मेरे हाथ धोकर आते-जाते अपनी प्लेट में खाना परस लेते थे, तो शायद उन्हें कभी महसूस नहीं हुआ होगा कि उन्होंने कोई बेजा काम किया है; और सच तो यह है कि हमें भी यह कभी नहीं खटका था, पर इधर जब से हम लोग रूबी के घर की शालीनता के अभ्यस्त हो चले थे, हमें अपने माँ-बाप की ये हरकतें बेहद जांगलूस और स्वार्थी लगने लगी थीं।

अब सोचने पर लगता है कि उस वक़्त हम ऐसे आडम्बरपूर्ण इंसानी रिश्तों के उस मूल कच्चेपन से कितने अनभिज्ञ थे, जिन्हें ज़ोर से एक कुर्सी का खिसका देना-भर ख़तरनाक ढंग से झकझोर और उलझा जा सकता है।

एक रोज़—बस, एक क्षण-भर को ही रूबी के घर की उस शान्ति के नीचे खदकता लावा हमें एक दरार से देखने को मिला था, पर इतनी शीघ्र वह दरार पाट दी गयी थी कि हमारा क्षणिक भय और कौतूहल हम पर तब हावी नहीं हो पाये थे। बात क्या हुई थी, ठीक याद नहीं आता। कोई बड़ी सामान्य-सी ही रही होगी, क्योंकि उसकी प्रतिक्रिया का हिंसात्मक आवेग हमारे लिए उसकी तुलना में इतना बड़ा और अप्रत्याशित था कि हम अवाक्-से हो गये थे। इतना ही याद है कि खाने के बाद हम सब मेज़ पर बैठे थे। अकसर इतवार के दिन वे लोग हम दोनों को खाने के लिए रोक लेते थे। सो इतवार ही रहा होगा। रूबी के पपा भी घर पर ही थे, और जैसा कि उनके घर का क़ायदा था, एक चाँदी की छुरी से कोई ताज़ा फल तराश रहे थे सबके लिए। अचानक भाई-बहनों की विचित्र टेलिपैथी से बिल्लू और मैंने साथ-साथ महसूस किया कि तब तक नितान्त दैनिक और सामान्य लगती बातचीत का रुख़ न जाने कैसे दूसरी ओर मुड़ रहा है और शब्दों में पहाड़ से लुढ़कते ढोंको की-सी ऐसी घातक तेज़ी आ चली है कि वे लोग उसे रोक पाने में असमर्थ हैं। रूबी की ममा ने अपनी प्लेट आगे खिसका दी और एक डरावने, विकृत स्वर में चीख पड़ी—"तुम सब मुझे एकदम बेवकूफ़ और ग़ैरज़रूरी समझते हो—यूज़लेस!" फिर अस्वाभाविक तेज़ी से अपनी कुर्सी धकेलकर वे भीतर चली गयीं। क्षण-भर सिनेमा के 'स्टिल' दृश्य के पात्रों की तरह हम अपनी-अपनी भयार्त्त मुद्राओं में टँगे रहे, फिर अचानक रूबी के पपा ने फलों की तश्तरी हमारी ओर कर दी—"खाओ!" बिल्लू और मैंने साथ-साथ सिर हिला दिया। इस क़तई ग़ैरज़रूरी घटना की आकस्मिकता हमें स्तम्भित कर गयी थी। नहीं, स्तम्भित नहीं, निराश

कहना ही ज़्यादा उचित होगा। अपने प्रियजनों के इस आदर्श ग्रुप की सम्भाव्य भंगुरता कौंध कर हमें अचानक बहुत शंकित कर गयी थी, पर ज़्यादा देर को नहीं। हाथ धोते-धोते बिल्लू और मैं स्वाभाविक आतुरता से रूबी से तरह-तरह की बातें करने में व्यस्त हो गये थे और बात आयी-गयी हो गयी।

रूबी के घर के पिछवाड़े पाँगर का एक बड़ा-सा दरख़्त था, जिसके नीचे की दो शाखें सीढ़ियों की तरह ऐसे नीचे झुकी हुई थीं कि उनके ऊपर पैर रखकर बड़ी आसानी से रूबी के कमरे के ऊपर की टिन की ढलवाँ छत पर चढ़ा जा सकता था। यह हमारा प्रिय अड्डा था, जहाँ बैठकर हमने ईनिड ब्लाइटन की परी-कथाओं से लेकर ह्विटमैन की कविताओं तक पर बहसें की थीं। हमारे अपने घर का वीतराग-स्वच्छन्द वातावरण यायावरी पढ़ाई के लिए एकदम आदर्श पृष्ठभूमि था। बिल्लू और मैं यूँ जाते तो थे पास के ही सामान्य-से स्कूलों में, जहाँ पुराने, अधेड़ और खराब हाजमे वाले मास्टरों और थकी झाईदार मास्टरनियों का समूह एक उकताई खीज के साथ प्रस्तावित पाठ्यक्रम हमारे सिर पर फेंक जाता था, पर कुछ अम्मा की लिखाई-पढ़ाई और कुछ बाबूजी की आज़ाद ख़याली के कारण पाठ्यक्रम छोड़, उस छोटे शहर की लायब्रेरियों, फेरी वालों, बुकसेलर्स और दोस्तों की किताबों से जितना कुछ मिल सकता था, हम दोनों ने चाट डाला था। और अब अपनी तुलना में हम दोनों को अपने रिश्तेदारों या पारिवारिक मित्रों के हम उम्र बच्चे बहुत नादान या अनावश्यक रूप से पढ़ाकू प्रतीत होने लगे थे। हमारी इस नितान्त बचकानी स्नॉबरी की सज़ा इन बच्चों ने हमें दी थी अपने अन्दरूनी घेरे से हमें जाति बाहर करके! खेलकूद में हम दोनों भाई-बहन खासे फिसड्डी थे, और चूँकि अम्मा की कपड़ों के प्रति लापरवाही भी हमें विरासत में मिली थी, इन दोनों बातों को लेकर वह गुट हमारा काफ़ी मजाक उड़ाता था। इस सबके मूल में हमें उनकी ईर्ष्या दिखाई देती थी। इससे हम काफ़ी सन्तुष्ट थे। पर हमारे इस आत्मकेन्द्रित और

स्नॉबरी भरे जीवन में रूबी का प्रवेश एक रॉकेट के छोड़े जाने जैसा चमकीला अजूबा था।

रूबी शहर के उस बहुत प्रसिद्ध, और ज़ाहिर है, बहुत महँगे अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ती थी, जहाँ माँ-बाप के सालों नाक रगड़ने के बाद बच्चों को दाख़िला मिलता था। हमारे माँ-बाप की नाक चूँकि बहुत ऊँची थी, अतः उसे रगड़ने के बजाय हमें दूसरे स्कूल में भेजना ठीक समझा गया। पर रूबी की बात और थी। उसके साथ प्रभावी व्यक्तियों, आला अफ़सरों और राजदूतों के रेफरेंस और आज्ञापत्रों का एक भारी पुलिन्दा स्कूल गया था, जिस पर एक सरसरी निगाह-भर डालकर स्कूल की मदर सुपीरियर ने हामी भर दी थी। मुझे यह क़बूल करने में क़तई शर्म नहीं कि यदि रूबी की जगह बिल्लू या मैं होते, तो हमारे ओछेपन की थाह ढूँढ़े न मिलती, पर रूबी ने कभी हमसे इस सबके बारे में बात नहीं की थी। जब बिल्लू और मैंने बहुत खोद-खोदकर पूछा, तभी उसने शर्मीली मुस्कराहट के साथ यह सब बताया था और यह भी कि वह अपने ममा-पपा के साथ तक़रीबन सारी दुनिया घूम चुकी है। उसके पास ज्यूरिख के स्की स्कूल का ड़िप्लोमा था, अमरीकी रेड क्रॉस सोसायटी का मैडल था, और भी जाने कितने हैरत-अंगेज पुरस्कार और सर्टिफिकेट; पर वह कभी इस विषय पर खुद बात नहीं करती थी। पढ़ने का उसे भी बेहद शौक़ था और अकसर उसके नाना विदेशों से उसके लिए किताबों के पार्सल भेजते रहते थे। उसकी लायब्रेरी हमारे लिए मुँह-माँगा वरदान थी। अकसर वह अपने स्कूल की लायब्रेरी से भी हम लोगों के लिए किताबें ले आती थी, जिसे टीन की कुनकुनी छत पर टाँगे हिला-हिलाकर हम लोग पढ़ा करते थे।

बिल्लू और मैं प्रायः अपने घर से जेबों में कच्ची खूबानियाँ और मूँगफली भर लाते थे और पढ़ते, बात करते उन्हें टूँगते रहते। पर रूबी ने शायद ही कभी वे खायी हों। वह यूँ ही बहुत कम खाती थी और खाने की मेज़ पर उसके माता-पिता अकसर इस बात पर चिन्ता

व्यक्त करते रहते थे। हर खाने के साथ-साथ उसे आयरन, मल्टी विटामिन, कैल्शियम वगैरह, जाने किस-किस चीज़ की गोलियाँ निगलनी होती थीं, पर इसके बावजूद उसका दुबला चेहरा वैसा ही पीला, उदास और कुम्हलाया-सा रहता। अम्मा का कहना था कि अगर दवाइयों की गोलियों के बजाय वे लोग रूबी को खुली हवा में आने और हँस-बोलने का मौक़ा दें, तो चार दिन में लड़की की कायापलट हो जाये। वे खुद एक ही बार रूबी की ममा से मिलने ऊपर आयी थीं और घर जाकर उन्होंने उन्हें एकदम हिस्टीरिकल अमीरजादी करार दे दिया था और फिर कभी उधर नहीं गयीं। रूबी की ममा अलबत्ता अम्मा की काफ़ी तारीफ़ हमसे करती रहती थीं, जिसकी तुलना में अम्मा की प्रतिक्रिया हमें काफ़ी कमीनी और ईर्ष्यालु प्रतीत हुई थी। पर दोनों ही पक्षों ने एक-दूसरे से फिर मिलने के लिए कोई ख़ास उत्साह नहीं दिखाया और घर के काम वगैरह के चालू, पर मान्य बहाने दोनों ओर स्वीकार कर लिये गये।

रूबी की ममा स्थानीय नौकरों के जांगलूसपने से बहुत खिन्न थीं। कम्पनी की ओर से उन्हें अनगिनत नौकरों को रखने की सुविधा तो मिली थी, पर पहले के रखे नौकर उन्हें इतने जाहिल और अनगढ़ लगे कि यहाँ आते ही उन्होंने उन सबको रफ़्ता-रफ़्ता छुट्टी दे दी थी, और जो थे उनमें भी वे अकसर अदल-बदल करती रहतीं।

उन्हें खुद धूल की सख़्त एलर्जी थी, अतः डॉक्टर ने उन्हें स्वयं झाड़पोंछ करने को मना किया था और चूँकि नौकरों में उनकी पसन्दीदा नफ़ासत से यह करने लायक़ कोई नहीं था, यह सब काम रूबी ही करती थी। कहीं भी धूल का कण चमका, तो वे लोग रूबी को पुकारते और वह जो कुछ भी कह रही होती, उसे वैसा ही छोड़, ऐसे भीतर भागती जैसे उसने भारी गलती की हो। इसी तरह खाना ख़त्म हो जाता, तो बिना किसी के कहे वह चुपचाप सारी प्लेटें एक ट्राली पर रखकर पेंट्री में खिसका देती। उसकी ममा को खाने के दौरान और ऐन बाद में जंगली नौकरों का धमाधम आना-जाना और

प्लेट समेटना बहुत परेशान कर जाता था। यह सब काम रूबी रोज़ बड़े क़ायदे के साथ होंठ भींचे-भींचे ऐसे करती थी कि बिल्लू और मैं कहीं बहुत शर्मिन्दा महसूस करने लगते थे। अपने घर में तो अपना कमरा खुद ठीक करना या सुबह गर्म पानी के ठंडा होने से पहले बाथरूम जाकर नहाना जैसे नितान्त व्यक्तिगत काम भी हम लोग बड़ी ही स्पष्ट अनिच्छा और अहसान जताते हुए करते थे। रूबी की यह शान्त कार्यपटु आज्ञाकारिता हमारे लिए एक ख़ासी हितोपदेशी चीज़ थी।

रूबी की ममा के कमरे में शीशम की एक विराट मेज़ थी, जिस पर उनकी नाजुक स्टेशनरी, एक ताज़े फूलों का गुलदस्ता और एक कटग्लास के मग में कोई आधा दर्जन पेंसिलें-पेन सदा करीने से ऐसे सजे रहते कि हाथ लगाते डर लगता था। अकसर वे खुद वहाँ विचारमग्न मुद्रा में तैल-चित्र की तरह बैठी रहतीं—बगीचे और बाहर की धूप को देखतीं-अन-देखतीं। एक बार उन्होंने पर्दे के पीछे झाँकते मुझे देख लिया था—'आइए न!' मैं चुपचाप भीतर चली आयी। पकड़े जाने की खिसियाहट के ऊपर मेरी उत्सुकता हावी हो रही थी। रूबी और बिल्लू घर में किसी दूर कोने में रहे होंगे। मैं चुपचाप खड़ी हो गयी। छन-छनकर आती पहाड़ की नर्म धूप में मैंने देखा, उनकी खाल अभी भी हमसे भी गर्म और पारदर्शी थी। मैंने मेज पर निगाह डाली। काग़ज़ों की ढेरी कोरी रखी थी। या तो उन्होंने कुछ लिखा नहीं होगा या फाड़कर...

"जी?" मैं चौंकी। वे कुछ पूछ रही थीं।

"तुम्हारी माँ तो हिन्दी में लिखती हैं न?"

"जी!"

उन्होंने स्वभाववश जूड़ा उकसाया। वे अभी बाहर ही देख रही थीं जैसे पेड़ों से कह रही हों—"अच्छा है। लिखना भी तो बस..." उन्होंने वाक्य आधा ही छोड़ दिया।

"जी?" मैंने अपनी बेवकूफ़ी से उनको कुरेदा।

"लिखो, छपाओ, आलोचना करवाओ, फिर उसकी आलोचना सुनो, कितना थका देता है सब आदमी को। हम जैसे लोग जो लिखते हैं, रूबी और तुम लोगों की जेनरेशन उसे भावुक कह देती है; हर जगह हर वक़्त..." उन्होंने फिर बात अधूरी छोड़ दी।

मैं चुपचाप बाहर खिसक आयी। शायद उन्हें पता भी नहीं चला होगा, उनके लिए तो मैं शायद एक घबरायी अनगढ़ लड़की-भर थी, रूबी की एक और दोस्त, या शायद वह भी नहीं।

फिर हमारे फाइनल इम्तहान क़रीब आ गये थे। और स्कूल की कई मास्टरनियाँ एकाएक जचगी या हनीमून की छुट्टी लेकर बैठ गयी थीं। अम्मा का एक उपन्यास अभी-अभी ख़त्म होकर पब्लिशर के यहाँ चला गया था, सो वे भी अपेक्षाकृत फुर्सती मूड में थीं। अब वे ध्यान लगाकर हमारा कोर्स पूरा करवा रही थीं। एक चमत्कारित तेज़ी के साथ हमारी सारी किताबें उन्होंने ऐसी चाट डाली थीं कि कामचोरी या झूठ बोलने की क़तई गुंजाइश न रह गयी थी। पहले बिल्लू प्रायः शासकों के नाम और जन्मतिथियाँ मन से बनाकर उद्धृत करके उन्हें प्रभावित करता रहता था, पर इधर वह भी काफ़ी सहमा हुआ रहता था। बहरहाल इस सारे हड़बोंग में रूबी से हमारा मिलना-जुलना काफ़ी कम हो गया था। वह भी इधर स्कूल के बाद पियानो अथवा बैले या दोनों चीज़ें सीखने लगी थी, सो दिन ढले ही घोड़े पर साईस के साथ लौटकर आती थी। या तो ज़रूरत से ज़्यादा मेहनत की वजह से या अन्य किसी कारण से, वह और भी कमज़ोर और गुमसुम हो चली थी। अकसर वह बोलती-बोलती चुप-अनमनी हो जाती या हम उससे कुछ कहते होते और पाते कि वह सुन भी नहीं रही है।

पहले हम लोग अपने बारे में सशंक हुए, पर हममें तो कुछ ख़ास बदला नहीं था। तो शायद वही कुछ विमुख-सी हो चली होगी, पर कभी-कभी वह फिर पहले ही की तरह घुल-मिलकर हमसे बोलती,

बिल्लू की नकलों पर हँसती, हमें कठिन कविताओं के अर्थ समझाती। अजीब पहेली थी। उसके माता-पिता का व्यवहार अलबत्ता हमारे प्रति वैसा ही उदार, हँसमुख और स्नेहशील था। अकसर जूड़ा उकसाती उसकी ममा चिन्तातुर आँखों से उसे देख हमसे पूछतीं कि रूबी बहुत कमज़ोर लग रही है न? पर यह जानते हुए कि हमारे 'हाँ' कहने से उन्हें चिन्ता का विकट दौरा पड़ जाएगा, हम तुरन्त प्रतिवाद कर देते कि नहीं तो। और वे कुछ-कुछ आश्वस्त-सी हो फिर से जूड़ा उकसाने में व्यस्त हो जातीं, हालाँकि उनकी आँखों की चिन्ता उतनी ही घनी रहती।

इसी बीच एक दिन बाबूजी ने खाने की मेज पर ख़बर दी कि हमारे इम्तहान ख़त्म होने तक शायद उनके तबादले के आर्डर भी आ जाएँ। ख़बर की मिली-जुली-सी प्रतिक्रियाएँ हुईं। बिल्लू जानना चाहता था कि वहाँ स्कूल क्या यहाँ से बेहतर है, अम्मा यह कि क्या घर सरकारी मिलेगा कि तलाशना पड़ेगा, महाराज जानना चाहते थे कि वहाँ कम्पाउंड में गाय रखने लायक़ जगह होगी क्या? दूध-का-दूध मिलेगा, ऊपर से गोबर के उपले वगैरह-वगैरह। हम सभी ख़ासे उत्साहित हो चले थे। छोटे-से कस्बाई शहर में रहते-रहते अब हम सभी का जी घिरने लगा था। नयी जगह, नये दोस्त, नया स्कूल—सब काफ़ी दिलचस्प बातें थीं।

उस दिन खाना खाने के तुरन्त बाद हम दोनों गोखरू झाड़ते, पत्तियाँ कचराते रूबी के घर जा धमके। रूबी शायद पियानो की प्रैक्टिस करके ही उठी थी। अपनी लम्बी-पतली साफ़-सुथरी उँगलियों से उसने अपनी आँखों पर से बाल हटाए—"हलो! हलो! हलो!" उसकी हँसी भरी खुशी की अकृत्रिमता से मुझे अपने इतने दिनों की ग़ैरहाज़िरी पर हल्की खिसियाहट-सी हुई। कनखियों से मैंने बिल्लू की ओर देखा। वह भी एक ख़ास तरह से होंठ भींचे हुए था। ऐसा वह तभी करता था, जब वह खिसियाना-रुआँसा हो आता था।

"आओ न!" रूबी ने पर्दा सरकाया। हम लोग उसके कमरे में

जाकर बैठ गये। कुछ देर इधर-उधर की बातें होती रहीं। "गुड न्यूज!" रूबी ने हाथों से एकाएक ताली बजायी! उसके स्कूल की लायब्रेरी में बहुत सारी नयी अमरीकी लेखकों की किताबें अभी-अभी आयी हैं, बस इम्तहान-भर ख़त्म हो जाएँ, फिर वह ख़ास परमीशन लेकर एक साथ दर्जन-भर हम तीनों के लिए इश्यू करा लाएगी। क्यों? बिल्लू ने खिसियायी खंखार के साथ इशारा किया कि उसे ख़बर दे ही दूँ।

"बात यह है कि वे किताबें हम दरअसल नहीं पढ़ सकेंगे।" कहने के साथ ही वाक्य का निरर्थक फूहड़पना मुझे खलने लगा। इतना भेदभरा रुख़ लेने का क्या मतलब! साफ़-साफ़ क्यों न कहा जाए—'असल में इम्तहान ख़त्म होने के बाद हम लोग यहाँ से जा रहे हैं, रूबी। हमारे बाबूजी का तबादला हो गया है।' भड़भड़ाकर मैं एक साँस में कह गयी।

बिल्लू ने बात आगे बढ़ायी—"खूब बड़ी जगह है, बाबूजी का कहना है कि स्कूल भी बहुत अच्छे हैं। और मालूम, महाराज ने क्या कहा?"—हमारे महाराज की कट्टरपंथिता और उनकी कड़वी जुबान हम लोगों के मज़ाकों का अनन्त स्रोत थे। बिल्लू ने ठहाका लगाया—"कहते हैं, वहाँ जाकर गाय पालेंगे।" बिल्लू अचानक रुक गया।

रूबी सिर नीचा किये एकटक ज़मीन देख रही थी। उसके चेहरे का रंग एकदम फक् हो गया था, जैसे भूत देख लिया हो। फिर उसने सिर उठाया—"सच कह रहे हो?" हम लोगों ने निःशब्द सिर हिलाए—"हाँ।" अचानक एक अजूबा-सा हुआ। रूबी का सुन्दर चेहरा पिघलकर जैसे इत्ता-सा हो गया—"तुम...तुम दोनों स्वार्थी-दगाबाज हो! जाओ!" रोती हुई वह बाथरूम में घुस गयी। भड़ से दरवाज़ा बन्द हुआ। हम कुछ देर सुन्न खड़े रहे, जैसे किसी ने तमाचा लगा दिया हो। फिर दबे पाँव निकल आये।

इसके बाद की घटनाएँ मेरे दिमाग़ में यों खुबी हुई हैं जैसे कि अभी-अभी घटी हों। तीन-चार दिन हुए थे कि उस सुबह बाबूजी

बाहर चौकीदार से अख़बार लेने गये जैसा कि रोज़ करते थे। फिर नीचे किसी से बातें करने की आवाज़ आयी। आवाज़ें जान-बूझकर धीमी थीं, यह साफ़ था। बिल्लू और मैं मुँह में टूथब्रश लिये-लिये तुरन्त बाल्कनी पर जा लटके। फिर हमने देखा कि ड्रेसिंग गाउन पहने रूबी के पपा तेज़-तेज़ क़दमों से निकले और अपने बँगले की ओर चले गये। बाबूजी ने चौकीदार को गाड़ी की चाभी थमाते हुए गराज खोलने को कहा और अन्दर आये। अम्मा, बिल्लू और मैं मारे उत्सुकता के फटे पड़ रहे थे, पर भीतर नज़र डाले बिना बाबूजी बाहर के फ़ोन पर बातें करने लगे। छोटे शहर का एक्सचेंज था, सो ऑपरेटर से ही नम्बर माँगना पड़ता था। बाबूजी ने सिविल सर्जन साहब का नम्बर माँगा तो हमारे कान खड़े हुए। कौन बीमार होगा? रूबी? उसकी ममा? पर फ़ोन तो उनके अपने घर में भी था। क्या पता शायद खराब—बाबूजी की एकतरफ़ा बातचीत की ओर हमने कान सटा दिये, पर बाहर टीन की चादरों के भीतर हवा की सुरसुराहट का ऐसा निनाद था कि कुछ पल्ले नहीं पड़ा। बाबूजी गम्भीर चेहरा लिये भीतर घुसे। बिल्लू के शब्दों में ऐसे मौक़ों पर उनके होंठ 'एम' के आकार में भिंच जाते थे। हम लोगों ने कातर निगाहों से अम्मा की ओर देखा। वही पूछ लें कि क्या बात है। बाबूजी ने चटपट कपड़े बदले और बालों में ब्रश फेरने लगे।

"क्या हुआ? कोई ख़तम हो गया क्या?" चाय का प्याला, उन्हें थमाते हुए अम्मा ने अपनी स्वाभाविक स्पष्टवादिता के साथ पूछा। प्रश्न की नंगी सचाई ने हमें कीड़े की तरह तिलमिला दिया, हालाँकि बात यह एकदम वही थी जो हम खुद भी पूछना चाह रहे थे। मुझे लग रहा था कि जैसे किसी ने मेरी आँतों को रस्सी की तरह बँट दिया हो। बाहर गाड़ी का दरवाज़ा बन्द हुआ। मैंने थूक निगला—"रूबी की माँ ने शायद नींद की ज्यादा गोलियाँ ले ली हैं। सुसाइड का-सा कुछ शक पड़ रहा है। सो वे चाहते हैं, मैं सिविल-सर्जन और पुलिस वगैरह से बातें कर लूँ।" बाबूजी धड़ाधड़ सीढ़ियाँ उतर गये।

मेरा बहुत मन चाह रहा था कि पीछे-पीछे चल दूँ, पर उनकी गम्भीर मुख-मुद्रा याद आते ही ख़याल खुद-ब-खुद बिला गया। हमारे घर में भी ऐसे क्षणों में ज़िद नहीं की जाती थी। कुछ देर कमरे में स्तब्धता रही। बिल्लू और मैंने एक-दूसरे की ओर देखा, 'तो फिर रूबी?' हम दोनों की नज़रों में एक ही सवाल था।

"चाहते हो तो उसे बुला लो।" अम्मा ने हमारी ओर पीठ किये-किये छाली कतरते हुए कहा।

हम कुछ चौंके-से। क्यों? बिल्लू ने मेरी ओर प्रश्नवाचक भँवें उठायीं। पर मैंने सिर हिला दिया। मैं रूबी को जानती थी। उस दिन के बाद उससे अपने टूटे सम्बन्ध जोड़ने की कोई कोशिश करना बेकार था। बिल्लू ने बहुत ज़िद की, पर में भी अड़ गयी थी। अम्मा ने कुछ नहीं कहा, यों भी वे हमारे निजी मामलों में न कोई ख़ास रुचि दिखाती थीं, न ही दखल देती थीं। हम बाहर चले आये। उस दिन धूप काफ़ी सख़्त थी, सो बाहर के खेल कुछ जमे नहीं। भीतर ठंडक में बैठे हम लोग काफ़ी देर, बगैर अम्मा के कहे-कोंचे पढ़ते रहे, हालाँकि हमारी सारी इन्द्रियाँ इस पूरे दौरान कान बनकर बाबूजी की प्रतीक्षा में खड़ी थीं।

बाबूजी काफ़ी देर में लौटकर आये। आते ही उत्तेजना से बोलना या ख़बरों का खुलासा करना उनकी आदत नहीं थी। हम साँस रोके उनके हाथ-मुँह धोने—कुल्ला करने की आवाज़ें सुनते रहे। काफ़ी देर बाद उन्होंने बताया कि रूबी की ममा अब खतरे के बाहर थीं। एक तो जल्दी डॉक्टरी मदद भी मिल गयी थी, फिर शायद डोज उतनी ज़्यादा नहीं थी। भाग्य की बात है। मैंने उनसे भी कहा कि अब इस बारे में उनसे या किसी से ज़्यादा बात न करें, तो बेहतर होगा।

"तो क्या अभी अस्पताल में ही हैं कि घर लौट आये हैं?" अम्मा ने आदतन कटोरे के बाहर छलकाते हुए दाल परोसी।

बाबूजी ने बताया—"वे अभी एक दिन और अस्पताल में रहेंगी, फिर आ जाएँगी। वे लोग घर आ गये हैं।"

मैंने पानी का इतना बड़ा घूँट ले लिया था कि आँख-नाक में मिर्ची-सी भर गयी। बड़ी मुश्किल से खाँसी का दौरा रुका। फिर कुछ देर हम लोग चुपचाप खाते रहे। रोटी के एक टुकड़े को आलू की कतली के चारों ओर एकाग्रता से लपेटते हुए बाबूजी ने बताया कि ऐसा रूबी की ममा ने पहली दफ़ा नहीं किया था। तीन साल पहले भी उन्होंने इसी तरह...तभी यहाँ तबादला करवाया था। अचानक उन्हें हमारी सतर्क उपस्थिति का भान हुआ—"यह सब बातें इधर-उधर कहने की नहीं है, समझे?"

"जी!" हम लोगों ने तुरन्त समझदारी से सिर हिला दिये।

"तो, अब क्या फिर तबादला कराएँगे?" अम्मा ने पानी छलकाते हुए मेरी प्लेट में ताज़ी रोटी रखी। बातचीत में मैं हमेशा खाना भूल जाती हूँ।

"कह रहे थे हफ़्ता-भर बाद उन्हें यूरोप के दौरे पर जाना है, तो एक महीने की छुट्टी लेकर तीनों चले जाएँगे। उनके फादर भी शायद वहीं कहीं है।" बाबूजी कुर्सी खिसकाकर आदतन हम सबके खा चुकने की प्रतीक्षा किये बिना उठ खड़े हुए थे। आज पता नहीं, उनकी यह हरकत मुझे नहीं खटकी।

हाथ धोकर बिल्लू और मैं बाहर निकल आये। सुबह के उत्तेजनात्मक हड़बोंग के बाद रूबी की ममा की हालत में आशातीत सुधार, हमारे लिए अप्रत्याशित होने के साथ-साथ कुछ खिन्नताप्रद भी था। जैसे किसी रोमांचक उपन्यास का अन्त बड़ा फिस्सू-सा निकल गया हो। बाहर घास पर लेटकर हम लोग अपनी किताबें पढ़ने लगे। कुछ देर बाद बिल्लू ने अपनी किताब औंधा दी और तिरछा हो आया।

"अच्छा, क्या ऐसा हो सकता है?"

"क्या?"

"छोड़ो, कुछ नहीं।" उसने अपनी किताब फिर उठा ली और पढ़ने का उपक्रम करने लगा।

"क्याऽऽ?" अब मैंने किताब रख दी थी।

"कुछ नहीं।" बिल्लू अपनी किताब पर आँखें गड़ाए रहा, हालाँकि उसकी पुतलियाँ निश्चल थीं।

"क्या यही कि उनहोंने जान-बूझकर कम गोलियाँ खायी हों?" मैंने देर से मरोड़ की तरह पेट के भीतर ऐंठता सवाल उगला।

"हाँ।" बिल्लू ने किताब रख दी।

"धत्!" मैंने कहा; हालाँकि मेरी आवाज़ में गुस्सा या नकार क़तई नहीं थे। फिर हम दोनों चुप हो गये। पाँगर के पेड़ के नन्हें खुशनुमा फूल सब नीचे छितराकर सूख चले थे और पेड़ों पर उनकी जगह खुरदुरी और मोटी सख़्त खाल वाले गोल-गोल फलों ने ले ली थी। बिल्लू ने एक ढेला उठाकर डाल पर बैठे कौवे की ओर फेंका—"हात् साले! तेरी ऐसी-की-तैसी!" हम दोनों ठठाकर हँस पड़े। अरसे बाद हम लोग बगैर अपनी भाषा पर शर्मिंदा हुए हँस रहे थे।

"क्या मालूम, रूबी की ममा को हॉस्पिटल में भी धूल की एलर्जी हो जाये—हाक्! छींऽ!" बिल्लू ने एक नाजुक ललित भंगिमा से छींक को रोकने का नाट्य किया और फिर हम खूब हँसते रहे। पर जाने क्यों थोड़ी ही देर में हमारी हँसी उतरे सुर की तरह बिला भी चली। हम दोनों को शायद एक साथ ही रूबी की याद आ गयी थी अचानक। और अचानक हमको लगने लगा कि दिन ढल चला है और हवा में एक सर्द कँपकँपी भर आयी है।

उठते-उठते मेरी नज़र फिर रूबी के घर की ओर चली गयी थी। उतरती धूप में वह रूबी की ही तरह अपनी मायूस अकेली चुप्पी में घिरा बन्द खड़ा था। शायद उस वक़्त उसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि इसके भीतर कोई परिवार भी रहता है। उस दिन जब हम उसे अपने जाने की ख़बर सुनाने लपके चले गये थे, तभी शायद रूबी की प्रखर बुद्धि ने हमसे पहले यह भाँप लिया था कि खुद को समेटकर पुरानी यादों-सम्पर्कों से खुशी-खुशी अलग हो जाना हमारे लिए कितनी सहज-स्वाभाविक प्रक्रिया है, जबकि उसके लिए यह

नश्तरे से अलग-अलग चीरे जाने जैसी तिलमिला देने वाली चीज़ थी। अपने सारे वजूद के साथ उस क्षण उसने अनुभव कर लिया था कि हमारी स्वच्छन्द यायावर और काफ़ी हद तक खुरदुरी-बेलाग ज़िन्दगी वह उसी तरह नहीं बाँट सकती थी, जिस तरह उसके प्रखर तनाव-भरे जीवन की चुप्पी झेलना-ओढ़ना हमारे लिए शारीरिक रूप से भी असम्भव था। अचानक मेरा मुँह एक पितलाए कड़वे स्वाद से भर गया था। रूबी-रूबी-रूबी! उस चुप्पी साँवली लड़की को पूरी तरह समझ पाने के साथ ही आज मैं यह भी जान गयी थी कि, अब अपने उस मासूम कौतूहल-भरे पिछवाड़े से बकरियों की तरह थूहड़ फलाँगते उसकी ओर जा चढ़ना हमारे लिए क़तई नामुमकिन हो गया था। शायद इसी को बड़ा होना कहते हैं। नहीं?

बिल्लू ने जाते-जाते एक और ढेला झाड़ियों की ओर फेंका था, 'हात् साले!' पर इस गाली में न वैसी तुर्शी थी और न वह खिलखिलाती ताजगी, और जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, इस बार हम लोग शायद हँसे भी नहीं थे।

चिमगादड़ें



टिन की छत पर पहले एक छितराई-छितराई-सी आवाज़ हुई, जैसे किसी शैतान बच्चे ने कंकरियाँ उछाल दी हों...एक क्षण एक बोझिल सन्नाटा—और फिर तरड़-तरड़, एक झटके के साथ बौछार खुलकर बरस पड़ी। मारिया चौंककर उठ बैठी। अभ्यस्त हाथों ने तकिये के नीचे से चश्मा निकालकर चढ़ा लिया और अपनी चुँधियायी आँखें मिचमिचाती, कुछ देर वह खिड़की के परे पड़ती बूँदों को ताकती रही।

मौसम की पहली बरसात थी। एक गुनगुनी गर्मी लिये हुए ज़मीन का सोंधापन उठा और कमरे में भर गया। धारों की चमकीली निरन्तरता में बीहड़ हवा आड़े-तिरछे 'पैटर्न' बनाए जा रही थी! एक हल्की बौछार खिड़की की मुँडेर को भिगो गयी...टप् ...टप्...टप्...टप्...कोने की टूटी नाली से चमकीली बूँदें काँप-काँपकर गिर रही थीं।

"अरी कमबख़्त, उठ, देख तो कितनी प्यारी बरसात हो रही है।" मारिया ने बगल की पलंग पर बेख़बर सोती सोनिया का

कम्बल खींचा।

"चुप भी कर, मारी..." उनींदी झिड़की के साथ सोनिया ने करवट बदल ली।

...मारी खिसियायी-सी कुछ देर नाखून कुतरती रही, फिर हाथ बढ़ाकर कुर्सी से अपना काला 'हाउसकोट' उठा लिया और कमर का फीता कसती बाहर निकल आयी...ऐन सीढ़ियों के पास छत फिर चूने लगी थी..."अहँ, यह घर भी कोई घर है! टपड़ा कहीं का!" वह बाथरूम से चिलमची लाने ममा के कमरे में घुस गयी।

"क्या हाल है, ममा? नींद आयी ठीक से?"

ममा सूखी तोरई-सी बाँहों से सीना थामे आदतन काँख रही थी—"हाय मेरे ईसू, अब पास बुला ले।"

"हँह! सभी को बुलाता है, एक तेरी ही बारी नहीं आती।" वह टपकती छत के नीचे चिलमची रखती बुदबुदायी। फिर लगभग चीखते हुए भीतर झाँका—"क्या हुआ? फिर गैस हो रही है क्या पेट में?" ममा की लगभग अन्धी मटमैली सलेटी आँखें उधर को मुड़ीं—"हँह! अरे, जैसी हालत है, मैं ही जानती हूँ...ऐसा दर्द उठता है कि बस, जान खिंची जाती है। इस डॉक्टर लाल की तो दवा ही बेकार है... क्या भरोसा इन नेटिव डॉक्टरों का—थू!" ममा ने पलंग के नीचे रखे पैन में थूक दिया—"मुँह का स्वाद जाने कैसा हो गया है। बस, फ़ायदा तो डॉक्टर डैनियल की ही दवा करती थी...या मेरे ईसू..."

बातचीत का रुख़ मनचाही दिशा में मुड़ता देख, मारिया ने अपनी भरकम देह दरवाज़े से टिका दी और फुर्सत से खड़ी हो गयी—"ममा, बात तो यह है कि जब तक तू अपनी जुबान को कंट्रोल नहीं करेगी, कोई डॉक्टर-हकीम तेरे मर्ज की दवा नहीं कर सकता। अब डिनर में जबर्दस्ती चावल खा ले, ऊपर से चॉकलेट भी चबा ले तो डायबिटीज बिगड़ेगी नहीं क्या?"

ममा का पोपला मुँह उत्तेजना में ऊँट के थोबड़े की तरह बलबलाने लगा—"तेरा ...सोनिया का क्या है। तुम दोनों के लिए मैं

बस एक ज़िन्दा लाश-भर हूँ।...तुम्हारा बस चले तो कुत्ते की तरह बस एक सूखी रोटी डाल दो।" ममा के झुर्रीदार गालों पर आँसू चूने लगे—"ठीक कहते थे डॉक्टर डैनियल कि अगाथा, आदमी का अपना ही ख़ून सबसे ज़्यादा दगा देता है। क्या मालूम था मुझे, मेरे ईसू कि अपनी ही बेटियाँ रोटी-रोटी पर टोकेंगी..." ममा का संलाप स्वागत भाषण में बदल गया था। अब बुढ़िया घंटों बिलखेगी। तृप्त भाव से अपने चश्मे की कमानी ठीक करती मारिया जीर्ण सीढ़ियाँ उतरने लगी...

सामने तमाम दीवारों पर सीलन से चकत्ते-से उभर आये थे। प्लास्टर भी जगह-जगह फूलकर झड़ने-झड़ने को हो रहा था। थोड़ी देर मारिया उदास आँखों से ताक़ती रही...सारी-की-सारी इमारत जैसे गल-गलकर बैठती जा रही है। सारा बगीचा झाड़-झंखाड़ से भरा हुआ, फव्वारे में सुखी पत्तियों के ढेर...हँह! कोई घर है यह भी! एक उसाँस लेकर वह सीढ़ियाँ उतर गयी...

पेण्ट्री में बूढ़ा सैम्युअल तसले में चावल धो रहा था। लाल बदसूरत चावल। फिर वही बदबूदार भात मिलेगा, मारी कुढ़ गयी—"क्यों, इस बार भी यही सड़ा चावल ले आया तू?" सैम्युअल उपेक्षा से चावल का पानी निथारता रहा, पोपले मसूढ़े कुछ हिले—"राशन का माल है, ऐसा नहीं तो कैसा होगा?"

"पानी गरम हुआ?"

"अभी हो जाता है"—सैम्युअल ने मैली कमीज़ पर गीले हाथ पोंछे और भट्ठी के ऊपर चढ़ी देग में झाँकने लगा—"बस, बीस मिनट और..."

मारी बुरी तरह भन्ना गयी, "आज तक तूने कभी पानी ठीक टाइम पर दिया है क्या? अब किससे नहाऊँ, बता?" सैम्युअल लापरवाही से देग का ढकना सीधा करता हुआ कुछ बुदबुदाया। शायद यही कि लकड़ी ही सड़ी हों तो उसका क्या कसूर। "तू खुद

ही तो लकड़ी ख़रीदता है, देखते वक़्त दीदे फूट गये थे क्या?" मारिया ने अपना झोंटा कान के पीछे खोंस लिया, यह तो नित्य के नाटक की पुनरावृत्ति थी।

"अब आप तो जैसे जानती नहीं," सैम्युअल ने चिमटे से आग कुरेदी—"हर चीज़ज पर तो बड़ी मेम सा'ब बोलती हैं कि सस्ते दाम वाली लाना। अब बारा आने में आजकल सूखी लकड़ी कहाँ से आएगी। बोतल भर किरासन का तेल तक तो आता नहीं, ऊपर से डाँटने को हर कोई..."

मारिया ने एक विवश क्रोध से होंठ काट लिये। कब्र में टाँग लटकाए बैठी है बुढ़िया, पर पैसे-पैसे को दाँत से पकड़ेगी ...सैम्युअल भी क्या करे? यह तो बुढ़ापे की मजबूरी है कि टिक गया, वह भी वरना...

"ठीक है, हो जाये तो बाथरूम में रख देना। और फिर ब्रेकफ़ास्ट लगा देना समझे?" अपने रुआब के चीथड़े समेटती मारी सीढ़ियों को मुड़ गयी—"देखना, अंडा मत जला डालना फिर से।"

"मुड़गी तो सब कुड़क हैं, अंडा नहीं है घर में..." सैम्युअल निर्विकार भाव से आलू छीलने लगा...

"तो काटकर पका डाल कमबख़्तों को!" मारी हाउसकोट का कॉलर कसती हुई सीढ़ियाँ चढ़ने लगी—हँह, सभी-कुछ एक से बढ़कर एक। ...मुर्गियाँ भी हैं तो कमबख़्त गन्दगी फैलाने के अलावा किसी काम की नहीं। जब देखो तब कुड़क!...हँह, कोई घर है यह भी...!

...कमरे में सोनिया अपनी सींक-सलाई देह को तोड़ती-मरोड़ती जमुहाई ले रही थी—"सैम्युअल कहाँ मर गया, मारी? आज चाय ही नहीं लाया था सुबह।"

"लाया कैसे नहीं, पलंग के नीचे तो पड़ी है प्याली।"

सोनिया ने झुककर देखा और मूर्खों की तरह हँसने लगी, "अब मुझे क्या पता! आज दूसरी तरफ़ रख गया! मैं तो दाहिनी तरफ़ ही

झाँक देखती हूँ।"

"हँह!" मारी खिड़की के पास खड़ी बरसात देख रही थी... एकदम घोड़ी लगती है सोनिया हँसते हुए...बेचारी को शायद पता नहीं कि वह कितनी अधेड़ लगने लगी है। इतराएगी ऐसे, जैसे कल की छोकरी हो। मारिया ने चश्मे की कमानी ठीक की।

"आज सुबह-सुबह ममा बड़ा चीख रही थी, क्या हुआ? फिर गैस बढ़ गयी क्या?" "होगा क्या?" मारी खुली खिड़की का पल्ला बन्द करती बाथरूम में घुस गयी ...हँह, टूथपेस्ट भी ख़त्म होने पर आ गया है! अब अगले महीने से पहले तो बुढ़िया नयी ट्यूब मँगवाने से रही। उसने थोड़ा-सा पेस्ट ब्रुश पर लगा लिया और एक हिंस्र झटके से दाँतों पर रगड़ डाला—"रात बुड्ढी ने मना करते-करते भी खूब चावल खा लिये। फिर दो टुकड़े चॉकलेट के चाट गयी, अब कलप रही है। जुबान पर तो बस है नहीं, फिर डॉक्टरों को कोसती है..."

"डॉक्टर था तो बस मेरा डैनियल..." सोनिया ने ममा की पोपली बोली की नकल की—"आजकल के नैटिव डॉक्टर तो बस.. ." दोनों बहनें हँसने लगीं। मारिया ने तौलिये से मुँह पोंछा—"एकदम भीगा तौलिया है। बुढ़िया से इतना नहीं होता कि नये मँगा ले..."

सोनिया, जो अनमनी-सी खिड़की को ताक रही थी, अचानक पलटी—"देख, मेरे वाले को इस्तेमाल मत करना। परसों ही डी.सी. एम. से लायी हूँ।"

"कौन कर रहा है तेरे तौलिये को इस्तेमाल!" मारिया ने अपना तौलिया स्टैंड पर टाँग दिया और बाथरूम का दरवाजा भिड़ा दिया। कुछ देर दोनों, अपरिचितों की तरह आमने-सामने बैठी एक-दूसरे के परे देखती रहीं। मनहूस चुप्पी को तोड़ती बरसात लगातार गिर रही थी—तरड़-तरड़। बन्द खिड़की के शीशों पर पानी की बूँदें एक चमकीली व्यग्रता से टेढ़ी-मेढ़ी होकर रेंग रही थीं। मारी ने चश्मा उतारकर, यत्न से पोंछा और फिर चढ़ा लिया। कुछ देर यूँ ही पैर के

अँगूठे से अदृश्य लकीरें खींचती रही। फिर एक सहमी-सी कनखी से उसने सोनिया को ताका—"सोनिया!"

"हूँ?" सोनिया माथे पर सलवट डाले, कुछ सोच-सी रही थी—"तेरे पास चार रुपये होंगे क्या?...मेरी चप्पलें एकदम..."

"नहीं हैं"—सोनिया उसकी ओर बग़ैर देखे ही चट से उठ गयी।

मारिया ने रश्कभरी नज़र से उसकी अलमारी पर झूलते ताले को देखा। दस-पन्द्रह तो ज़रूर ही होंगे कमबख़्त के पास! पर देगी क्यों? आख़िर है ना ममा का खून! सारा का सारा सेंतकर सात तालों में छिपाए रखेगी कि कोई माँग न ले, आवाज़ में हल्की दीनता भरकर उसने फिर एक बार और सहमी चेष्टा की—"बस, पाँच-छह दिन का सवाल है। फिर मैं ममा से माँगकर वापस दे दूँगी"...सोनिया ने दरवाज़े को लापरवाही से धक्का दिया।

..."आज तक कभी ममा ने चुकाए हैं जो अब देगी?" उसकी पतली आवाज़ और तीखी हो गयी—"मर-खप कर अस्सी रुपया स्कूल से कमाती हूँ, उसके भी सौ हिस्सेदार हो जाते हैं। अपने धोबी का हिसाब मैं अलग से करूँ। बस का किराया अपने पैसों से दूँ। धेले का क्रिसमस प्रेजेंट तो मिलना दूर, उस पर उधार माँगने को सब तैयार। ममा से क्यूँ नहीं कहती सीधे? मेरी मारी, मेरी मारिया तो सारे वक़्त कहती रहती है बुढ़िया! हँह...कोई घर है यह भी?"

दरवाजा भड़ाक्-से बन्द हो गया। एक शिथिलता से मारिया सलवट-भरे बिस्तरे पर अधलेटी हो गयी। गलती उसी की है। सोनिया का भिड़ के छत्ते-जैसा मिजाज़ जानते हुए भी उससे माँगने गयी ही क्यों? इस घर में बस सबकी दुखती रग है, पैसा! घर की जिम्मेदारी न होती तो वह भी ढूँढ़ लेती कोई नौकरी। कम-से-कम सोनिया के हाथों ऐसी बेइज्जती तो नहीं...पर देता भी कौन उसे नौकरी? माइनस ग्यारह का मोटा चश्मा, मोटी फूहड़ देह। दो-चार बार कोशिश भी की तो लोग शक्ल देखकर ही बिदक गये...एक रश्कभरी साँस लेकर उसने अल्गनी पर टँगे सोनिया के बित्ते भर के

ब्लाउज़ को ताका। कमबख़्त कितना ही खा-पी ले, पर मजाल है कि तोला-भर भी मांस चढ़ जाये...एक वह है, दिन-पर-दिन और भी मोटी और भोंडी होती जा रही है...मनहूसियत में जो कसर बची थी, उसे पूरा करने को उसका कमबख़्त चश्मा...भड़ाक्!...बाथरूम का दरवाज़ा फिर खुला। सोनिया बाल बिखराये दहकती खड़ी थी—"मारी, तूने फिर मेरा ओडीकोलोन लगाया?"...गुस्से से उसके होंठों के ऊपर भींगे रोयें काँप रहे थे। कोटरग्रस्त आँखें और मिचमिची हो आयी थीं। कहीं एक तृप्ति की भावना से मारी ने नोट किया कि गुस्से में सोनिया ख़ासी बदसूरत लगती है।

"बोलती क्यूँ नहीं?" सोनिया आग्नेय आँखों से उसे घूर रही थी...मारी चुप रही ...एक-दो बूँद ही तो..."सौ बार कहा है, कि अपने शौक अपने तक ही रखा कर! या तो पैसा माँग अपनी ममा से और अपने लिए अलग से ख़रीद ला! मेरी कमाई से ख़रीदी चीज़ों का शौक़ करने की ज़रूरत नहीं! समझी।" भड़ाक् से दरवाज़ा उसी अप्रत्याशितता से बन्द हो गया, जैसे खुला था। मारी कुछ देर स्तब्ध बैठी रही। अब आज से 'ओडीकोलोन' भी ताले में बन्द हो जाएगा! कमीनी नहीं तो! हर चीज़ में ममा का उलाहना देती है। जैसे उसे पता ही नहीं कि ममा मारिया की चापलूसी सिर्फ़ इसलिए करती है कि अब अन्धी खुद घर नहीं सम्हाल सकती।...घर का भी क्या है? काम की जिम्मेदारी सब उसकी और पैसा-रुपया सब ममा के पास! धेले-धेले का हिसाब रखवा लेती है बुड्ढी, पर रूमाल के लिए भी आठ आने माँगो तो बिदक जाएगी! हँह...मेरी मारिया। खूब समझती है वह ममा के लाड़ का राज! पर करे क्या? कहाँ जा सकती है वह भी? अब तो वह है और गल-गलकर बैठता यह घर...अधटूटी चप्पल घसीटती मारिया ममा के कमरे में घुस गयी...

...जिंघम की रंग उड़ी नीली फ्रॉक में लिपटी ममा किसी प्रागैतिहासिक फासिल की तरह आरामकुर्सी पर उकड़ूँ बैठी थी... दृष्टिहीन सलेटी आँखें दरवाज़े की ओर मुड़ीं—"कौन? सैम्युअल है

क्या?...आज तो तूने ब्रेकफ़ास्ट ही नहीं..."

"नहीं, मैं हूँ, ममा!" मारी खिड़की के पास रखी दूसरी कुर्सी पर बैठ गयी—"कैसी तबीयत है तेरी अब? दवा ले ली थी क्या?"

"क्या दवा-दारू करूँ बेटा, अब तो बस दिन ही कट रहे है..." ममा की सूखी झुर्रीदार उँगलियाँ मकड़ों की तरह अपनी गर्दन सहला रही थीं—"न बदन में ताक़त है, न आँखों में रोशनी...या मेरे ईसू!"

...एक क्षण को मारिया के भीतर दया-सा कुछ सिहर गया—"डॉक्टर लाल को फ़ोन करूँ क्या? शायद दवा बदलने से..." "अरे, दवा-हवा क्या, अब तो ऐसे ही ठेलना है, बेटा!" ममा ने पलकें झपकायीं—"उपर से और एक लम्बा बिल थमा जाएगा कमबख़्त! मैं इन लालची नेटिव डॉक्टरों को खूब जानती हूँ।...यहाँ पैसे-पैसे को सोचकर ख़र्च करना पड़ता है कि किसी तरह महीना कट जाये...दवा का बिल कौन..."

मारिया ने गले के पास घृणा का ठंडा हरा स्वाद महसूस किया—"तेरा ब्रेकफ़ास्ट मँगा दूँ, ममा?" बूढ़ी की अन्धी आँखों में एक लोलुप चमक गहराई—"पुकारना तो जरा कमबख़्त को बेटा, मेरी तो सुनता ही नहीं...मैं तो कहती हूँ मेरी मारिया न हो तो..." मारिया ने क्रूरता से ठोकर मारकर दरवाज़ा खोल दिया और बाहर आ गयी ...हँह, यह घर!—"अरे सैम्युअल! अभी तक तेरा ब्रेकफ़ास्ट नहीं बना क्या?"

बाहर बारिश यकायक और तेज़ हो गयी...तूफ़ान की साँय-साँय में पूरा घर हिल-सा रहा था—"सैम्युअल!" वह फिर चीखी।

"सुन लिया जी, आ रहा हूँ अभी!" झुँझलायी आवाज़ सीढ़ियों के मोड़ पर से ही आयी। सैम्युअल ट्रे में ममा का नाश्ता लिये आ ही रहा था—"अब लकड़ियाँ ही ऐसी सीली हुई हैं तो मैं क्या करूँ?"

मारिया चुपचाप कमरे में फिर घुस गयी—"ले, आ गया तेरा ब्रेकफास्ट भी। यहाँ रख दो, सैम्युअल!" उसने इशारे से तिपाई दिखा दी। सैम्युअल चुपचाप ट्रे रखकर बाहर निकल गया। पुतली-सी बैठी

ममा यकायक चैतन्य हो आयी—"टोस्ट गरम तो हैं ना, मारी?" मारी निःशब्द टोस्ट पर मक्खन लगाती रही। बस, खाने की गन्ध मिली नहीं कि बुड्ढी की पाँचों इन्द्रियाँ जाग पड़ती हैं! ममा जवाब न पाकर भी चहके जा रही थी—"सैकरीन की तीन गोली डालना मेरी चाय में! एक-दो गोली से तो मिठास ही नहीं आती..."

मारिया ने टोस्ट बढ़ा दिया—"ले!"

एक घृणास्पद उत्सुकता से झुर्रीदार हाथ प्लेट तलाशने लगे। टोस्ट पर हाथ पड़ते ही एक बेताबी से ममा ने दबोच लिया और पोपले मसूढ़े परम तृप्ति से उसे चुभलाने लगे, "मक्खन कम लगाया है मारी बेटा, ज़रा और दे देना!"

"ममा, डॉक्टर ने मना किया है।" ममा का निचला होंठ रूठे बच्चों की तरह फूल आया, "तो कल से खाना भी बन्द कर देना कि वह भी नुकसान करेगा!...अपने लिए तो कोई कमी नहीं करोगे तुम लोग, बस मेरे ही लिए सब चीज़ की मनाही है। मैं सब समझती नहीं क्या?" उसकी अन्धी आँखों में आँसू टपकने लगे—"पैसे देकर भी खाना मयस्सर नहीं होता...या मेरे ईसू, कैसी मजबूरी है। अरे, मेरे ही पैसों से सब लोग खाते हो और मुझी पर सारी रोक-टोक भी लगाते हो! इतना ही पैसा किसी होटल को दे देती तो..." ममा ने फ्रॉक उठाकर, नाक सुड़क ली।

एक क्षण को मारिया का मन हुआ कि बुढ़िया की गर्दन के पीछे की झुर्रीदार खाल चुटकी में पकड़कर उसे ऊपर उठा ले, जैसे कुत्ते के पिल्लों को उठाया जाता है, और फिर झकझोर-झकझोरकर मक्खन की तश्तरी में उसकी नाक रगड़ डाले—'जा किसी होटल में और दो औंस की टिकिया को हफ़्ते-भर चला ले!' अपने ही गुस्से के उफान से पस्त वह बाहर निकल आयी, "सैम्युअल! पानी गर्म हो गया हो तो रख देना बाथरूम में!"

सैम्युअल ने पता नहीं सुना भी या नहीं...मारिया चुपचाप बाहर ताकने लगी, बरसात निढाल होकर थम गयी थी। बस, एक हल्की

बौछार-सी पड़ रही थी। झीने पड़ते बादलों के पीछे से कहीं-कहीं आसमान की सलेटी झाईं भी नज़र आने लगी थी।...चले, गीला तौलिया तो बाहर डाल दे कम-से-कम... । थके पैरों मारी कमरे में घुस गयी। सोनिया ने हाँथ-मुँह धोकर कपड़े बदल लिये थे और गुनगुनाती हुई बाल ब्रश कर रही थी। मूड शायद कुछ बेहतर था, मारिया ने हल्के से खखारा—"कहीं बाहर जा रही है क्या?"

"कहाँ जाऊँगी ऐसे मौसम में..." सोनिया ने तुनककर कंघा रख दिया और उँगली पर टूटे बाल लपेटने लगी—"एक ढंग का छाता तक तो पास में है नहीं, कौन बैठा है मेरा जिसके पास जाऊँगी। थू!" आदतन उसने बालों के गुच्छे पर थूका और खिड़की के बाहर फेंक दिया।

"तो जा फिर जहन्नुम में ही!" मारिया ने मन-ही-मन दाँत पीस लिये...

सोनिया बाहर चली गयी तो चादर बिछाते-बिछाते उसने सिर को झटका—हँह, बेकार ही वह भी इन लोगों को लेकर पागल होती है... चले, नहा ले!...अलमारी से कपड़े निकालती वह चौंक पड़ी—सड़ाक्! सड़ाक्! बाहर से ऐसी आवाज़ आ रही थी, जैसे कोई बेरहमी से पेड़ों को झकझोर रहा हो...उसने दौड़कर खिड़की खोल दी और झाँकने लगी. ..अन्दाज़ ठीक ही था, फिर वही स्कूली छोकरे लग्गी लेकर फल झड़ा रहे थे—"सैम्युअल!" उसकी तीखी आवाज़ कोड़े-सी लपलपायी—"जरा देखना इन कमबख़्तों को!" बच्चों ने अचकचाकर ऊपर ताका। खिड़की पर मारिया का विराट आकार काले हाउसकोट में लिपटा टँगा था... रसोई से सैम्युअल लकड़ी लेकर काँखता हुआ लपका—"नाश हो इन छोकरों का! ईस कसम, एक-एक की कमर नहीं तोड़ी तो..." मारिया उत्तेजना से पंजों पर झूल रही थी—"पकड़ लो बदमाशों को, जाने न पायें!" बच्चों के हुजूम ने अपनी लग्गी वहीं पटकी और पल-भर में पूरा झुंड खरगोशों की तरह बिला गया...पोपले मुँह से चिघाड़ता सैम्युअल पेड़ों के व्यर्थ चक्कर काट रहा था—"भाग गये बदमाश सब-के-सब! न

पढ़ाई, न लिखाई, बस चोरी-चमारी में अव्वल! आयें अब आगे कभी!" लकड़ी को झुलाता वह वापस रसोई में घुस गया। एक शान्ति की साँस लेकर मारिया ने हाउसकोट की पेटी कस ली। वह तो उसने देख लिया वरना एक भी फल नहीं रहने देते ये छोकरे! टप्! वह चौंककर पीछे हटी, एक कंकड़ी ठीक उसी के पैरों के पास आकर गिरी—"चिमगादड़! चिमगादड़!"...छोकरों का झुंड अब सड़क की खुली सुरक्षा में घिरा खड़ा था...उनके अगुआ ने बाँहें फटफटाते चिमगादड़ का आकार बनाया—"वो देखो काली चिमगादड़!"...हो-हो-हो...अपने लीडर की रसिकता से अभिभूत जत्था आगे भागने लगा...देर तक मोड़ से उनकी पतली बचकानी आवाज़ें कंकड़ियों की तरह उछल-उछलकर आती रहीं—"चिमगादड़! चिमगादड़!"...मारी ने पाया कि उसके हाथ से कपड़ों का गट्ठर न जाने कब फ़र्श पर गिर पड़ा है। खिड़की बन्द कर उन्हें उठाने को झुकी तो चप्पल का आख़िरी फीता भी तड़ाक्-से टूट गया।...एक बेबसी से उसने टूटी चप्पल को ताका और वहीं फ़र्श पर बैठ गयी...चुधी आँखों से आँसुओं के मोटे-मोटे क़तरे फूले गालों पर ढुलकने लगे। काला हाउसकोट डैनों की तरह उसके इर्द-गिर्द फैला पड़ा था।

हवा का एक भटका झोंका आकर खिड़की को फिर खोल गया। बाहर आसमान बच्चे की पहली रुलाई-सा नंगा और तीखा हो आया था...

हिर्दा मेयो का मँझला



"क्या यार, चक्कू कहता है तू इसे? इससे तो साली नकटे की नाक भी नहीं कटेगी। ला दो गुड्डी चुएँ का साग तोल फटाफट, कद्दू रहने दे।" पर दुकानदार खुट्टल चाकू और लुढ़कते-फिसलते कद्दू से बदस्तूर उलझा रहा।

"हिर्दा!" मैंने आवाज़ दी कालिदास से टक्कर लेती उपमाओं का यह अक्षय कोष और दुर्वासा जैसे तेवर और किसके हो सकते थे? हिर्दा मेयो के अलावा?

पीले विषण्ण चेहरे पर जड़ी आँखें मोटे चश्मे के पीछे से कुछ पल मेरा झिझक भरा मुआयना करती रहीं, मैं नहीं पहचाना गया था। मैंने रणनीति कुछ बदली, "भैक्शीनेशन इंज दी मैथड ऑफ़ प्रिमेटिंग श्माल पॉक्श बाइ मीन्श ऑफ़ काउ पॉक्श!"

हाथ का झोला दन्न से अरबी के ढेर पर पटककर हिर्दा ने मुझे गले से लगा लिया, "अरे यार डियर पितुआ तू! साले काउ पॉक्स की औलाद, ऐसा फ़िल्म का हीरो जैसे बनके घूमता-फिरता है, पुराने यार लोग पहचानें भी तो कैसे? हमने तो रोज़ निक्कर-कमीज में देखा ठैरा तुझे। वाह यार वाह।"

फिर मुड़कर हिर्दा ने भौंचक्के दुकानदार को जो बताया कुछ इस प्रकार था कि ये पाइन लॉज वालों का लड़का है, डिप्टी साहब का नाती पीताम्बर, दी ग्रेट एडीटर—किशन सुदामा की तरैं साथ-साथ पढ़े ठैरे हम गौरमेंट स्कूल में। अपने तो गांधी क्लास वाले ठैरे, पर ये साला तब भी अव्वल दर्जे वाला हुआ—गर्मियों में ये लोग आने वाले हुए, तब दो महीने को प्रौभीजनल दाखला लेने वाला ठहरा इसका, हमारे संग—अहा कितने जो अंग्रेज़ी के लैसन रटे ठहरे हमने साथ-साथ। इसके भैक्सीनेशन वाले रट्टे ने ही अपनी हाईस्कूल की नैया पार लगायी थी वर्ना कम्पलसरी अंग्रेज़ी तो यहाँ छाती पर मूँग दलने वाली ठहरी मूँग।

दुकानदार, जो लगभग पोपले मुँह के कोने में जीभ अटकाए अपने तिलिस्में होश-रुबाई चाकू से अब तक कद्दू हलाल कर चुका था, निष्काम भाव से टुकड़ा तौलने लगा, "ये लो तीन पाव हुआ। सवा दो का लगता—दो दे दो।"

"क्या यार कुल्ल आधा किलो को कहा था, फराल (फलाहार) को चाहिए कर के। पर बुढ़िया मानेगी जो क्या कद्दू बग़ैर। ला, दे।" हिर्दा जीर्ण कुरते की पॉकिट टटोलने लगा था। एक सस्ता पिचका प्लास्टिक का बटुआ उसने निकाला, और टटोलने लगा। उस मुड़े-तुड़े शीर्ण नोट को निकालने के बाद शायद बटुये में कुछ बचा भी न था।

"ये टिमाटर क्या भाव दिये?"—"दस" दुकानदार गद्दी पर [illegible] हो गया। एक क्षण हिर्दा की हताश तर्जनी ने बटुए की सूनी कोख टटोली, "क्या यार, टिमाटर न हुआ बकरे का मीट हो गया?"

"मीट तो हो गया पचास का, समझे? अभी भी साग-सब्जी सस्ती ही है।"

दुकानदार प्याज की ढेरी सही करने में जुट गया।

"कब आया तू? यहाँ कहाँ रुका है तू? पाइन कॉटेज तो देसियों

ने ख़रीद लिया सुना।"

"हाँ, रुका हूँ होटल में।"

"वाह यार! अरे हम मर गये थे क्या? हैं? चल-चल उठा लाते हैं तेरा बैग-हैग। साहब आदमी ठहरा तू ट्रंक-कंटर ले के जो क्या आया होगा? क्यों?"

"छोड़ यार"—शीर्ण झोले की क्षीण सम्भावनाएँ विरले मूर्ख से ही छुप सकती थीं। "गाड़ी सड़क से लगा है होटल, आने-जाने को सहज है," मैंने समझदारी से उसकी हताशा पर उत्साह की बल्ली अड़ा दी। "पर घर का खाना घर का ही हुआ। दो भाई दो, जरा बोज्यू (भाभी) के हाथ का हम भी खा आयें आज।" मैंने दुकानदार को कहा और सब्जियाँ तुलवाने लगा।

बिक्री की सम्भावना से दुकानदार के पोपले मुँह में से अब हठात् सरस्वती उमड़ने लगी, "ये जमाना हो गया है एडिटर ज्यू," वह कह रहा था, "कैसा कैसा देखा ठहरा हमने, पर ऐसा महँगाई का राज, गरीब के चूतड़ों पे दिन रात लात, आज ही जो देख रहे हैं। जो हरामी कल तक ककड़ी-भुट्टे चोर के गली-गली खुजलिहा कुत्ते जैसे मारे फिरते थे उनके सिर पर ये तिरछी टोपी, बदन पर आहा रे नेता छाप ये कुर्ता! हो गया, जीप में बैठके जब आते हैं तब टेढ़ी गर्दन करके—कौवे जैसी लला, समझे, कौवे जैसी—पूछ भर जाते हैं—मिजाज अच्छे हो रहे हैं शाह जी? करके! बुजुर्ग मानुष तो सिर नीचा करके हाँ-हाँ करके गुज़र जाएँ, आजकल के लड़के खब्बीस साँड़ जैसे उनको सींग मारने को दौड़ते हैं!"

उसने तीन भिंडी पलड़े से हटाकर बड़ी नजाकत से एक भिंडी उस पर पुनर्स्थापित कर धर्मकाँटे को स्थिर किया। फिर लिफाफे को तनिक हिलाकर उसमें पूरी सब्जी अँटाने लगा, "झूठ जो क्या कह रहा हूँ—पूछ लो यहीं खड़े इन हिर्दज्यू से, पिछले हफ़्ते टिमाटर जैसे गाल लेके भ्राताजी अध्यक्ष आये थे, इनसे हाथ जोड़ के कुसली-मंगल पूछी, नन्दादेवी के बल्द (बैल) जैसा इनका मँझला दौड़ता हुआ

आया, और कहने लगा कि ऐसा पूछने में जीभ तो झड़ नहीं जाती तुम्हारी नेता ज्यू? बाँह-वाँह चढ़ गयी हो। देखते-देखते, हाथ में हॉकी स्टिक भी ठहरीं छोकरों के। बात की बात में हाथ धर देने वाला हुआ गुरिया, जभी लोगबाग उसे पांडवों का भीम कहने वाले ठहरे। उधर नेता ज्यू का मुक्ख गुस्से से देसी छोड़ बिलैती टमाटर जैसा हो गया ठहरा। चार-छै बुजुर्गों ने बीच-बचाव कर दिया वर्ना उस दिन कोतवाली भेज जाने का पक्का इन्तजाम कर ही डाला था मेरे यार ने।"

धनिये की गड्डी से दो-तीन मरियल पौधे खींचते हुए उसने सौदा तोलने का पटाक्षेप किया और जो चन्द बातें सामग्री थमाते-थमाते कहीं, उनका सार कुछ इस प्रकार का था कि भीम क्या दुर्योधन क्या? जमाने का चलन ही बिगड़ गया है। क्या जो कहो! घर-घर में भीम जैसे लौंडे दो-दो हाथ करने बैठे हैं, चाकरी बिना। ऊपर से चौमास में बरखा नहीं हुई। साग-पात ये कैसा आ रहा है, सब देख ही सकते हो। पहले से चौंसार की मूली आने वाली हुई ये समझो मूसल बरोबर, गोस्नी का हरा धनिया ऐसा ठहरा कि नमक में डाल के पीस के सालभर धरे रहो, चुटकी भर भात में मिलाओ, तो सड़क चलते लोग खुशबू सूँधने को ठैर जाएँ। आज एक पैसे का नफ़ा नहीं रहा इस काम में। बाप-दादे दे गये थे दुकान सो खेंच रहे हैं।

"हात्-तेरे की!" अन्तिम वाक्य कानी गाय के लिए था, जो गुलेल (गुलेल से छूटे ढेले) जैसी सीधी चली आ रही थी जैसे उसके लिए टोकरों में सब्जी छजायी गयी हो। "हात्!"

भीम-जनक हिर्दा मैयो का चेहरा निर्विकार था। ढेरों से मटर उठाकर उसने एक फली छील डाली और अब दाने मज़े में खा रहा था। हिर्दा मुझसे उम्र में कोई सात-आठ बरस बड़ा होगा। फेल हो-होकर जब तक वह मेरी कक्षा में आया था मुझसे ही नहीं, कक्षा के औसत छात्र से उम्र में दस-बरस बड़ा हो चुका था। उसके जीवन के तब दो ही लक्ष्य थे—देश की सेवा करना और एक सुगठित शरीर का निर्माण। दोनों को वह, अपने ही शब्दों में 'पिलकर' कर रहा था।

इसी काल में उसके नाम का उत्तरार्ध जनमा था तब, जब कि गीर्वाणदज्जी हिस्ट्री मास्टर ने हमें मिस मेयो द्वारा की गयी भारत-निन्दा के बारे में बताया। तुरन्त उत्तेजित होने वाला हमारा हिर्दा देखते-देखते डेस्क पर बाँहे समेटे हनुमान बन खड़ा हो गया, "इस साली मिस मेयो की..."

नाना भद्दी गालियों से उस मिस मेयो नाम्नी मेम के साथ पशुजगत के साथ नितान्त अश्राव्य अवैध और अप्राकृतिक रिश्ते स्थापित कर हिर्दा ने एक गगनभेदी नारा लगाया, 'भारत माता की जय!' कहना न होगा, कि देशभक्ति के इस ज्वालामुखी विस्फोट के बाद दर्जा आठ 'अ' की कक्षा एक आनन्दमय वानर-सभा में परिणित हो गयी, जिसे कंट्रोल कर पाने में नितान्त असमर्थ हो गीर्वाणदज्जी हम तमाम वानरों को मुर्गा बनने का श्राप देकर पेशाब करने चले गये।

यही वह ऐतिहासिक घटना थी जिसके बाद मिस मेयो बन बैठी, हिर्दा की पक्की चिढ़, और एतदर्थ कालान्तर में उनके नाम का उत्तरार्द्ध भी। यूँ कभी उनका नाम हीरालाल शाह भी हुआ करता था, यह बात तदुपरान्त मैट्रिक के सर्टिफिकेट में ही सिमट बैठी।

हिर्दा को चढ़ाई चढ़ते वक़्त इस पुरानी घटना की याद कराते हुए भी मुझे हँसी आ जा रही थी। हिर्दा भी हँस पड़ा। झोला रखकर हम दोनों पत्थर के ढोंको के सहारे खड़े हो गये। बदन का पसीना हवा में धीमे-धीमे सूखने लगा। कैसे-कैसे मास्टर थे उन दिनों, कैसी थी उनकी शिक्षा प्रणाली और हमारे माँ-बाप ही नहीं दादा-दादी और नाना-नानी से भी पूरी तरह समर्थित होती थी तब उनकी वह हृदयहीन ताड़ना। रात को नील पर गरम गोले का तेल लगाती आमा (दादी-नानी) भले ही मुँह इन बज्जर हिरदय मास्टरों को कोसतीं, पर जोड़ती भी जाती थीं कि लालो, गुरु की कमची खाये बिगैर जब कालिदास भी पंडित नहीं बने तो तू कैसे बनेगा कर के—

"याद है हिर्दा तूने खुल्बे मास्टर को इंस्पेक्शन वाले दिन कैसा दिक्क किया था?" मैंने पूछा। हिर्दा ठहाका मारकर हँस पड़ा। तब

का सयल पाला गया उसका शरीर दुबला-घिस्सू हो आया था, पर उसके बाद भी वह अपनी परिचित बकरी जैसी फुर्ती से ढलवान चढ़ रहा था। चढ़ाई चढ़ते मेरी शहरी साँस अलबत्ता फिर फूलने लगी, सो हम फिर रुके और पत्थर के एक ढोंके पर पुनः बैठ गये। मैंने सिगरेट की डिब्बी निकाली दोनों ने एक-एक सुलगा ली। हिर्दा ने गहरा कश लिया और फिर नथुनों से धुआँ छोड़कर सर मटकाया, "खूब ही जमी थी रंगत, क्यों पार्टनर?"

हिन्दी के खुल्बे मास्टर अपनी गाली-गलौज और मारपीट की आदतों के लिए मशहूर थे। कमज़ोर और ग़रीब छात्रों को सरेआम ज़लील करके उन्हें एक हिंस्र क़िस्म की खुशी मिलती थी, जबकि अच्छे घर के छात्रों की चाटुकारिता भरी तारीफ़ करते-करते उनके मुँह के कोनों से फिचकुर छूटने लगता। "पागल कुत्ता रहा होगा ज़रूर ये पहले जनम में"—हिर्दा ने पर्ची पर लिखकर पास किया, और हम सबकी हँसी छूट पड़ी थी। खुल्बे मास्टर की कमची हिर्दा की पीठ पर टूटी ही थी, तदुपरान्त हिर्दा ने भीष्म प्रतिज्ञा की थी कि स्कूल इंस्पेक्टर के सामने खुल्बे को माँ-बहन की देगा। सच्ची-सच्ची अगली बार जब इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल का दौरा हो रहा था, और स्कूल सफ़ाई-सुन्दरीकरण और रगड़ाई से चमाचम चमक उठा था, हिर्दा ने एक डेस्क उड़ाकर रख दिया था ठीक सामने और ज़ोर-ज़ोर से उसे खोलने की असफल चेष्टा करता कहता जाता, "खुल बे साले! खुल बे हरामी के! खुल बे तेरी माँ..."अपने चमत्कृत कक्षाबन्धुओं की सराहना इस प्रतिज्ञापूर्ति के एवज में उसे पड़ी नयी मार का बखूबी प्रतिकार करती गयी थी।

"खुल्बे मास्टर बिचारा मरा भी लुंजपुंज होके हो। आख़िरी वक़्त टट्टी-पिशाब बिस्तर पर कर देता था। एक तो लड़कियाँ ही लड़कियाँ ठहरीं, वो भी बाहर ब्याही, घरवाली पहले ही ख़तम हो गयी थी। मैं और खजांची मुहल्ले के मुकुन्द राठ ही कन्धा दे के मसान ले गये उसे, आख़िर गुरु तो ठहरा ही। हुआ कि नहीं?"

“हाँऽऽ,” मैंने कहा और हम दोनों के बीच एक चुप्पी-सी उतर आयी।

दिल्ली के वातानुकूलित सेमिनार हालों में नयी शिक्षा प्रणाली और बालमनोविज्ञान पर ऊँची बहसें कर, पाँच सितारा होटलों में पर्यावरण, दुर्भिक्ष और असुरक्षित मातृत्व पर अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनारों के लंच डिनर खाकर मेरी काया स्थूल और मन दुर्बल हो गया था। इस वक़्त भी मृत अध्यापक की अन्तिम व्यथा का प्रकरण सुन मेरी आँखों के पीछे भावुक आँसू चुनचुनाने लगे, पर हिर्दा का दुबला लम्बूतरा चेहरा उस चट्टान-सा भावहीन था जिसकी स्निग्ध वनस्पति और सोंधी मिट्टी सब वक़्त के थपेड़ों से न जाने कब बहकर किसी खारे समुद्र में विलीन हो गयी थी।

अचानक वह हँस पड़ा, “एक बात बताएगा यार पितुआ मुझे? मैं तो साला ठहरा सदा का खर-दिमाग़, समझ नहीं पाता ये सब, कि अन्त समय हमें जब खुल्बे मास्टर की ही तरह अपने गू-मूत के बीच गों-गों करके खलास होना है। तो जवानी भर इस साली दुनिया को अपने डंडे से हाँकने का ऐसा जब्बर ज़ोर साला हम क्यों लगाते हैं? तू तो यार इतना बड़ा नामवर एडीटर है, दूरदर्शन राजनीति की समाज की व्याख्या बगैरह भी करता है, क्या तू बता सकता है कि जिस सरकार को गांधी, नेहरू, पटेल नहीं सुधार सके ये साले आज के छोकरे हॉकी इस्टिक उठा के राह पर ले आयेंगे क्या? न पढ़ना, न लिखना, न काम! कामरेडगिरी ठहरी दिन-रात की।

उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना हिर्दा ने झोला उठा लिया, और हम दोनों फिर ढलवान चढ़ने लगे। यह तो पहाड़ ठहरा। लैन की लैन। चैन से क़दम लमालम नापना कभी नहीं होता यहाँ। चढ़ो चाहे उतरो चढ़ाई ही चढ़ाई ठहरी अपने करम में।

“क्यों? क्या कर दिया तेरे लड़कों ने?” थोड़ी देर तक कड़कड़ाट सुनते-सुनते मैंने पूछा।

“करेंगे क्या? बड़ा तो दुकान-हुकान सँभालता है, शान्त प्रकृति

का हुआ, पर मँझला एक हाथ भर तो ऊँचे निकल गया है मुझसे, और कुछ पूछता हूँ तो हॉकी इस्टिक उठा लेता है। छोटा तो अभी इस्कूली हुआ। नौकरी-चाकरी ठहरी नहीं, दुकानदारी जीरो। सो इस शहर के लड़के जो हैं न, कॉमरेड बन गये हैं कॉमरेड, समझा तू? किसान-मजदूर जनता की बराबरी की बात करते हैं वो। पर हाँ खुद अपने घर के भीतर घरवालों को अपने नौकर-नौकरानी जैसा मान के हुकुम चलाने वाले ठहरे। सुराही औड़ाके एक गिलास पानी पीना तो दूर गीला अँगोछा धूप में डालने तक में नाक लगती है उन्हें। बाप के नाम से चमकने वाले हुए। फिर महतारी आग में घी डालने को ठहरी ही। तेरे भी करते हैं क्या ऐसा? या बाप बड़ा आदमी होने से बीवी बच्चों की भी घिग्घी बँधी रहती है?”

हिर्दा मेरे आगे था, अतः मैं देख नहीं पाया कि बात सच्चे कुतूहल से पूछी गयी थी या व्यंग्य से? वैसे भी सदा का शाखामृग हिर्दा कब एक भाव की डगाल से दूसरी पर जा कूदेगा कहना मुश्किल था।

हमारे सामने कार्तिक की धूप में हिमालय चमक रहा था, बीच-बीच में कहीं मछुए के जाल जैसे कुहरे के छोटे-छोटे टुकड़ों से ढका हुआ। पतझड़ में सामने हिमालय हो, सर पर चटक धूप, और किनारों से गर्मी को नम करने वाला कुहासा, तो और जीवन कैसा निस्सार लग उठता है अचानक। क्या जवाब दे सकता हूँ मैं किसी को? गीता के वचन, भीष्म पितामह की दिलासा, माता गान्धारी का क्षमादान, जीवन के पतझड़ में सभी तो निस्सार हो गये थे पांडवों के लिए भी। कानों में बजता जाने वाला विधवाओं का कुररी-सा निरन्तर विलाप यहाँ हिमालय में निरन्तर उनका भी पीछा करता होगा। क्या होगा हमारा? हमारा क्या होगा? पीछे छोड़ आने भर से क्या पीछे का सब छूट जाएगा?

पतझड़ में बहुत कुछ भूला हुआ भुलाया हुआ याद आता है। अधबिसरी चोटें, अधबिसरी उमंगें! याद के संग-संग इच्छाएँ सर

उठाती हैं, नये सिरे से फिर से कुछ करने की, काफ़ी कुछ। भूल सुधारने की। यहीं से दुख की ढलान शुरू हो जाती है। पैर मुड़ा तो मैं गिरते-गिरते बचा। हिर्दा लमालम चल रहा था।

हाईस्कूल के बाद इंटर करने जब मैं बाहर चला गया था, तो शहर या घर के ही किसी जने से सुना था, कि कैसे पढ़ाई छुड़ाकर हिर्दा की शादी कर दी गयी थी और शादी के बरस भर बाद ही उसकी पत्नी ने दन्न से बेटा भी जन डाला था। जना भी कब? ठिक्क जब हिर्दा इंटर फाइनल में था, और परीक्षाएँ चल रही थीं। सुना वह बेटे की नामकन्द की पूजा में विलम्ब हो जाने से टैम पर परीक्षा भवन नहीं पहुँचा और फेल हो गया था, जिसके बाद उसने न पढ़ने की घोषणा कर दी थी। क्या उसी नवजात का सहोदर आज का दुर्वासा भीम होगा? मैं सोचने लगा।

पागर-अखरोट और दाड़िम के पेड़ों से घिरा उसका टीन की छत वाला घर मुझे बखूबी याद था। घर के पास एक छोटा-सा नौला हुआ करता था, जहाँ जंगली घास और खट्टमिट्ठी पत्तों वाले पौधों की बहुतायत थी। बरसात में उसके पत्तों पर काले अर्द्धविराम-सी जोंकें सर उठाये सूँघती रहतीं, उन पर नमक बुरककर उनको पिघलाने का गुर हिर्दा ने ही मुझे सिखाया था।

कैसे-कैसे गुरों की खान हुआ करता था अपना हिर्दा। मुझसे उम्र में पाँच साल बड़ा होने के बावजूद वह उसी क्लास में था जिसमें कि मैं भर्ती किया गया था। उसके पिता की तम्बाकू की थोक आढ़त थी। शहर के किसी सम्पन्न शाह कुल के वे बुझते चिराग थे। अकसर धूल भरे कमरे में तम्बाकू की पिंडियों के बीच सीना पकड़े खाँसते दीखते। उसकी आँखें पीली, निस्तेज और गाल चिपके-चिपके से थे। उसाँस छोड़कर हँफनी दबाते वे हिर्दा से कहते, "आलू खोदेगा तू साले! तेरे नसीब में पढ़ना कहाँ?" हिर्दा चिकने घड़े थे...पिता की कड़वी गालियों, माँ की मार्मिक उसाँसें उन पर रंचमात्र असर न डालतीं, न ही मास्टरों की ताड़ना।

मुझे अपने बच्चे याद आये। इस बरस गर्मी की छुट्टियों में वे ट्रैकिंग पर चले गये थे, पत्नी की छुट्टियाँ नहीं थीं। उसे एक पुस्तक मेले में अपने नारीवादी प्रकाशनों की बिक्री को हठात् योरोप ले जाना पड़ा। इधर काग़ज़ के बढ़ते दामों और वीडियों के लती सिरफिरे नवधनाढ्य पाठकों के नखरों ने हम लेखकी करने वालों का जीना ऐसा मुहाल कर रखा था कि मेरा रक्तचाप और अंज़ाइना बल्लियों उछलने लगा था। सो एक सप्ताह की छुट्टी लेकर मैं बरसों बाद इस तरह अकेला डोलने आ निकला था यहाँ। सप्ताह भर के लिए मैं फिरंट सन्तान, चिड़चिड़ी श्रमक्लान्त पत्नी, धौंस जमाने वाले बदज़ुबान युवा लेखकों-पाठकों और पीठ पीछे निरन्तर मेरी पदवी हड़पने का षड्यन्त्र करने वाले सहकर्मियों सबको मन की सलेट से—पोंछ डालना चाहता था। पतझड़ की मूर्खता ही कह लो इसे चाहे।

"दरअसल नसीब में ना, जो लिखा है सो ही होके रहता है।" हिर्दा ने झोला एक से दूसरे हाथ में बदल दिया, और दुखती उँगलियों को भींचने लगा, ज्यों हवा से कुछ झपटता हो। उसने कुछ और भी कहा, पर वह एक भर्राहट में बिला गया। हमारे सर के ऊपर से आकाश की किसी अनदीखे परत में से कोई हवाई जहाज़ गुज़र रहा था। उसकी गूँज नीली हवा की नीरवता में धुएँ की लकीर-सी हमारे सरों पर देर तक तिरती रही।

"बड़ा वाला भी फ्रस्ट्रेटेड ही रहता है, बोलने वाला चाहे कम हुआ, दुकानदारी में मन नहीं लगता, पर क्या करें? कुछ नहीं हो सकता यहाँ। इस बज्जर जमीन में"—हिर्दा की लम्बी तहरीर का आख़िरी वाक्य ही मेरे कानों में पड़ा।

इसी भाग्यवादिता ने तो इस शहर को मार डाला है, इसी से पुरुषार्थ, उद्यम, पर्यटन, होटल, कुछ नहीं पनप सका है। यहाँ इतने बरसों में। उधर पंजाबियों को देखो। तेल पड़े बैंगन-सा मैं बेतरह चिड़चिड़ा गया। मुझे लगा कि हो न हो इसी निराशावादी ठंडेपन से टकरा-टकराकर उसका बड़ा बेटा वीतराग और मँझला भीम भयंकर बन बैठा होगा।

"चलो भी," मेरे सुर का सम्पादकीय दम्भ मुझे झटके से चैतन्य बना गया। मैं पल भर को शर्मिंदा सा हुआ, "जल्दी क़दम उठाओ वरना बोज्यू को खाना पकाने को टाइम नहीं मिलेगा"—मैंने तनिक नर्माई से जोड़ा। "तू थक जायेगा, जल्दी मचाई तो, यहाँ तो रोज़ ही आदत ठैरी। हिर्दा ने झोला मुझसे ले लिया, और हम पुनः रवाना हो गये। कहीं इकहरी आवाज़ में फ़ाख़्ता बोली, फिर सन्नाटा।

"देर हेर जो हो, खुश हो जायेगी आज बुढ़िया सालों से तिनड़ी (हाथ से तोड़ी हरी भाजी) या कद्दू-अरबी यही तो राँध रही है।" हिर्दा पुनः बोलने लगा था। "उसके सुरेन-नरेन देख नहीं सकते वो सब। पर अब नीचे रीगल होटल का जैसा डबल आमलेट उनकी महतारी रोज़ बनाए भी तो कैसे? हुआ कि नहीं? मैं कहना चाहता हूँ, सालों से कि डियर जिह्वा पर संयम करो—विद्यार्थी जीवन में तामसिक आहार अच्छा जो क्यों होने को हुआ? पर कहे कौन—अपनी इज़्ज़त अपने हाथ, हुआ कि नहीं?" फिर कुछ देर हम दोनों अपनी-अपनी गृहस्थी से जुड़े सुख-दु ख समेटे साथ-साथ चुपचाप चढ़ते रहे।

हिर्दा का घर दीखने लगा था, बिलकुल वैसा ही जैसा कि पहले था। वही बगल की नालियों में उगे कचकैंधी बास वाले बिच्छू बूटी और खट्टी घासों के पौधे, और गेट के पास का कुबड़ा कुशम्यारू (छोटी जाति की खूबानी) का पेड़। एक लड़के ने गाड़े (सीढ़ीनुमा खेत) से जुड़े तार से टिककर झाँका, फिर भीतर चल दिया। "ये है मेरा छोटा नरेन। पहुँचा दी होगी ख़बर भीतर उसने खबरिया है छोकरा जनम का, अब आयेगी महतारी बाहर!" हमारे गेट तक पहुँचते-पहुँचते हिर्दा बोज्यू बाहर निकल आयी। क्वार की पकी करड़िया कंकड़ी की तरह कभी कनकछड़ी रही उनकी देह बादी भरकर पृथुल हो आयी थी, पर आँखें कोटरग्रस्त, चमड़ी दरकी सी और चेहरे पर लम्बी उदासी झेलने का फटापन फैला था। मेरे नमस्कार के प्रत्युत्तर में सिर्फ़ "आइए" कहकर पति के हाथ से

लगभग झोला छीनकर वे भीतर चल दीं, "ग्यारै बजा दिये", उनके स्वर में भरी कड़वाहट भीतर जाते-जाते सुन हिर्दा ने मुझे देखकर खिसियाने भाव से भवें नचायीं, "कहा नहीं था मैंने?"

खाना खिलाते-खिलाते बोज्यू का आलाप तानपूरे की ड्रोन की तरह नेपथ्य में जारी था, "तुम देवर जैसे हुए अपने हुए तब तुमसे कह रही हूँ लला, जो स्वारथ परमारथ इस घर के बँटवारे का मैंने भोगा है, ईश्वर किसी को न दिखाए। ग़रीबी में लड़के पालना हथेली का मांस खाना ठहरा। थोड़ा रसवाली सब्जी और दूँ?"

स्त्रियाँ कितनी सहजता से दुख की गहनतम दार्शनिक गहराइयों से अपनी ठेठ भौतिक दैनंदिनी पर कूद आती हैं, मुझे सदा विचित्र लगता रहा है। खाना सचमुच स्वादिष्ट बना था। मेरी पसन्द पुछ कटोरी में सब्जी डालते-डालते बोज्यू पुनः अपने दुखों की खोह में मँडराने चल दीं। "आढ़त बिक गयी। वैसे भी दुकान में कितना माल आया, क्या गया यहाँ किसी को कोई पर्वा नहीं ठहरी। ये तो ऐसे ही ठहरे मलंग फकीर—लड़के सींक को तोड़ के दो नहीं करने वाले हुए। बड़ा दुकानदारी से खार खाने वाला हुआ, मँझले को कॉमरेडगीरी से फुर्सत नहीं अरे हो भी क्यों? बाप ने कभी ऊँची आवाज़ करके पूछा तो हो, कि कॉलेज एक बजे खतम हुआ तो पाँच बजे तक किस ठौर डोल रहे थे करके? अपने आप बिगड़ने वाले हुए लड़के। अँगरेजी इस्कूल में ठहरा डिशिप्लिन पर वहाँ भेजने में लगने वाली हुई नाक, कि भारतीय भाषा में पढ़ायेंगे गौरमेंट इस्कूल! एक वही थीं जो झींकती रहीं—जेठ के लड़के कौनवेंट में पढ़-पढ़ के इंजीनियरी में पहुँच गये कि नहीं? दस तोले की रामनौमी बेचने को तैयार थीं वो, पर क्या? किसी को परवाह जैसी जो क्या हुई महतारी की राय की! थोड़ा भात और? छोटा अभी छोटा ही ठहरा..."

भरपेट खाके कमर-सीधी करने लेटा तो आँख ही लग गयी। उठने पर

पाया कि हवा में दिन ढलने की हल्की ठंड आ चली थी। स्टोव की भर्र-भर्र और बर्तनों की खनक से लगा चाय बन रही होगी। गीले स्नानघर में पतलून के पाँयचे बचाते मुँह धो रुमाल से पोंछता बाहर निकला। बैठक कमरे में कई फुर्सती प्रौढ़ जुट आये थे। कुछ आदतन, कुछ उत्सुकता-वश। छोटा-सा कमरा एकदम भर गया था।

चाय आयी। भाप उड़ाते गिलासों में हाथों-हाथ सुड़की जाने लगी। गप्पों का बाज़ार गरमाया। ऊँचाई का घर। शाम की हवा बह रही थी। अस्ताचलगामी सूरज बिछड़ी जाती माँ की ममता जैसी जो भी बची-खुची गर्मी थी, जाते-जाते घाटी में उड़ेले जा रहा था।

"इसके लौंडे को इस दफे ले जाएँ संग में एडिटर ज्यू, बाप का तो छोकरे ने क्या नाम नाक में दम कर रखा है। मँझला तो इसका इधर-उधर सींग मारने के काम का ही रह गया है। बस्स!" हिर्दा पाजामे के पौंचे उठाकर चुपचाप चाय सुड़क रहा है। नेकनीयत पड़ोसियों की कृपा से उसके भीतर-बाहर के रहे-सहे घाव भी मेरे सामने उघड़ आये हैं। उसकी सुनकर कुछ साल पहले तक पचास रुपै माहवार पिलशन पाने वाले एक अन्य वृद्ध को भी अपनी व्यथाकथा याद हो आयी है। अब नैनीताल-लखनऊ जाके बार-बार झिकझिक करने में दिक्कत होती जा रही है उन्हें। आधा पैसा आने-जाने में खर्च हो जाता है। भ्राता ज्यू अध्यक्ष पहले इन्दिरा गांधी के राज को खूब गाली देते-दिलवाते थे, कि उसके राज में स्वतन्त्रता सेनानियों की बुड्ढों की कैसी दुर्गत हो गयी है करके। पर सबको देख लिया हो—पहले वी.पी. सिंह को चिट्ठी डाली फिर चन्द्रशेखर को भी कहलाया। कुछ कहीं सुनवाई नहीं होती। जिलाधिकारी के पास अर्जियों का अम्बार लगा दिया, तब भी कोई कहीं ध्यान नहीं देता। भ्राता ज्यू अध्यक्ष अब कहते हैं इस बार हमारी पार्टी को वोट देके आने दो पावर में कहके—

"क्या दे देंगे पावर में आके वो भ्राताज्यू तुम्हें, हैं...दुम उठाके देखो साले सब नर के मादा निकलते हैं..." जाने कब आकर बैठक दरवाज़े पर घर का हिर्दा का मँझला खड़ा हो गया है। "यार-ये बात"—एकाध वृद्ध भीष्म अपनी पतली आवाज़ में प्रतिवाद करता है, पर वह बोले जा रहा है, कि "कैसे उसने, उन सबने अपने हज़ार-हज़ार कष्ट सबके आगे जा-जाके दिखाये हैं, नतीजा क्या निकला? खूब मालूम है! वही चूतड़ों पे डंडे। पूछ लो इन सबसे, अगर गलत कहता हूँ तो। पिछले महीने राशन की दुकानों का राशन नहीं आने पर शान्ति जुलूस ले के गये तो इनके उस रांडी के खसम जिलाधिकारी ने छात्रों से क्या सुलूक किया? हैं?"

बोलता-बोलता वह मेरे पास आकर खड़ा हो गया है। मैं कह रहा हूँ उससे कि बैठो तो सही यार, ज़रा आराम से, तफ़सील से हम भी तो सुनें कि युवा पीढ़ी—पर नहीं! वह बैठ नहीं रहा है। ऐसे खड़ा है जैसे उसके बदन में बैठने के लिए ज़रूरी जोड़ ही नहीं हो। कुछ देर बाद मेरी आवाज़ भी खिसियायी होकर बिला जाती है। किस पर पड़ा होगा ये छोकरा? उसके पीले-विषण्ण चेहरे को देखता हुआ मैं सोचता हूँ। बोज्यू तो अपने समय में खूब ही रूपसी थीं, हिर्दा भी अच्छे दगदगान स्वास्थ्य वाला रहा आया, पर यह बेटा दोनों में से किसी पर नहीं पड़ा था। दुबला, लम्बूतरा चेहरा, घनी बीच में जुड़ी भँवें, जो मोटी नाक पर झुक आयी थीं। गोल, अड़ियल ठोडी, पीले दाँत जैसे कभी मंजन न किया हो। सख़्त बाल कसकर पीछे को सँवारे गये थे और चेहरे पर एक झंखाड-सी दाढ़ी फैली थी। कमरे को टटोलते एक हिंस्र-सी लपलपाहट भीतर को धरी हुई उसकी आँखों में कौंधती थी, कभी विद्रूप-व्यंग्यभरी, कभी क्रोध से आक्रामक होती हुई। उसके क्रोध में बालसुलभ चंचलता नहीं एक पथरायी प्रौढ़ घृणा थी। सबकुछ तोड़ने पर आमादा। वह मुझसे सटकर खड़ा हुआ तो पसीने की अननहाई गंध का एक भभका आया। यह छोकरा इस शान्त साफ़-सुथरे घर में कैसे

आ जनमा? मैंने अचरज से सोचा। न तो उसके खड़े होने के तरीके में माँ का शिष्टाचार था, न हिर्दा के कैशोर्य की मस्ती। आख़िर यह दुदान्त मँझला चाहता क्या है? क्या दुनिया इसके लिए धुरी पर घूमना छोड़ दे? क्या नयी क्रान्ति का आवाहन और नेतृत्व इसी जैसे छोकरे करेंगे? हमने जो किया अब तक उसकी कोई वकत है इसके आगे—तभी उसकी हिमशीतल नज़र मेरी नज़रों से मिली और मैं तिलमिलाया सन्न-सा रह गया। वे दोहरी-भरी आँखें जैसे दो भयावह बावड़िया थीं। चित्त को वे कई पीढ़ियों पुरानी काई भरी गहराइयों में जबरन खींच रही थीं, जहाँ अँधेरी, चिकनी सतहें देखकर माथा चकरा जाये। सूत्र अब उलझ गये अचानक बातचीत के। "आज सारा बुद्धिजीवी वर्ग हाज़िर देख रहा हूँ शहर का। क्यों नहीं? रचना छपानी हुई सभी को एडिटर ज्यू से।" बड़े कड़वेपन से वह मुस्कुराया। उसकी मुस्कान की तीखी गहराइयों से कहीं एक पगलाई चालाक रोशनी भी थी। वह खूब जानता था कि तमाम दुनियादार दर्शन के बीच प्रौढ़ मनों में एक प्रकार की खीझी घृणा कभी-कभी कैसे सर उठाती है। अब वह हमें खिझा-खिझाकर न्योत रहा था कि हम कस बन्द किये विक्षोभ के उस तेजाबी सोते का मुँह खोलें, जिसमें घुलकर शहर के बुद्धिजीवी लोगों की वह सारी प्रौढ़ भव्यता राख हो उठे, जो उसे कनफटा-हेठा समझती थी। मैंने तै किया कि कम से कम मैं तो सम्मोहिनी क्रोध की इस सुरंग में अपना मन उसके पीछे उड़कर जाने न दूँगा। सयत्न एक ऐसी समझदार मुस्कुराहट मैंने चेहरे पर जड़ ली, जो कहती थी—तुम ठीक कहते हो बेटा, लेकिन हम भी तो अनुभवों की चट्टान पर खड़े हैं। कमरे के मेरे अन्य समवयसियों ने भी शायद ऐसा ही कुछ सोचा था इस बीच। "और एडीटर जी, और सुनाइए नीचे दिल्ली में क्या-क्या हो रहा है? इसकी छोड़िए। क्या नाम, बालक बन्दर एक सुभाऊ होने वाले हुए। अब क्या फिर मध्यावधि चुनाव होंगे? उसके बाद भी स्थिर सरकार बनेगी, या नहीं? कुछ ख़बर है? यहाँ तो क्या, शेष दुनिया से कटा हुआ इलाक़ा ठहरा,

अख़बार भी तीसरे दिन आने वाला हुआ। वो तो टी.व्ही. में कभी आपके दर्शन हो जाने वाले हुए तो अहोभाग्य! ये, हिर्दा तो हर प्रोग्राम देखता है तुम्हारा।" स्थानीय स्कूल के हिन्दी अध्यापक और सम्पादक के नाम निरन्तर पत्र लिखने वाले फुर्सती प्रौढ़ ने मँझले के सम्मोहन को छेंककर प्रश्न की कमन्द मेरी ओर छोड़ी। मैं उसे थामकर कुछ सहज होता हूँ। पर महारथी भीम है कि गदा जैसे हॉकी कन्धे पर टिकाये हिल नहीं रहा है।

"बैठ जा बेटा! तू भी चार बातें सुन ले एडिटर ज्यू से ज्ञान की। सारे देश की ख़बर रखने वाले हुए ये पत्रकार लोग। सरस्वती इनकी लेखनी पर सवार ठहरी। हम ठहरे पहाड़ी भुस्स!" वे पुनः उसे पुचकारते हैं।

"तो लिख लें एडिटर जी, यहाँ तो जब भी चुनाव हुए ना, तो लिखित में ले लो, एक भी पुराना विधायक, एक भी पुराना सांसद नहीं जिताएगा ये शहर। बोट के नाम पर चिड़िया की बीट नहीं मिलेगी सालों को।"

वृद्ध सभा भीम को नरमाई से फिर बरजती है। एक बुजुर्ग फिर चालू हो जाते हैं, हमें तो इस बेर किस पाल्टी के पीछे सपोर्ट लगाना चाहिए करके राय दो! यह मंडल-कमंडल तो ले डूबेंगे हम सबको!" वे जोड़ते हैं : "अरहर की दाल पचीस की, सरसों का तेल साठ का, चीनी बीस तक की बिके हैं यहाँ। तुम्हीं कहो लोग अपना अगड़ा-पिछड़ा सँभालें कि मंडल, कमंडल वालों का या तोप के दलालों का?" उनकी इस करुण तुकबन्दी पर ठहाका सा लगता है, पर भीम नहीं हँसता। उसके जबड़े हरकत करते हैं, ज्यों दाँत पीस रहा हो।

"बैठ भी जा यार।" फिर कोई कहता है। पर इस बार भी वह बैठता नहीं है। वह चट्टान सा खड़ा है। बीहड़ अनघड़ नंगी काली चट्टान सा। उसकी क्रोध से चिलकती आँखें जिधर मुड़ती हैं सबकुछ भस्मसात करती जाती हैं—स्नेह, सहानुभूति, संवेदना, तर्क, बिरादरी! मँझले को हम देखकर भी नहीं देखना चाहते, सुनकर भी

नहीं समझना चाहते। "भाई एडिटर ज्यू, चुनाव होते ही और जो हो भ्राता ज्यू अध्यक्ष की यात्राएँ खूब लगने लग गयी हैं इधर अब।" असहज भय के गिर्द कोई फिर मजाक की कच्ची भीत खड़ी करता है। "दस बरस पहले तो जब जिताया था, दिल्ली जाके, तब फरके नहीं थे एक बार भी पूछने को, कि कैसे होकर के! अब फिर पानी जैसे पतले हो रहे हैं। हुए, वैसे जात के खूब ऊँचे-नेम-धरम के भी पक्के हुए। मातृभाषा के पुजारी जैसे ठहरे। संस्कृत कहो हिन्दी कहो। माँ के परम भक्त। माँ के मरे में अहाहा जैसा श्राद्ध किया ठहरा आज तक सबको याद है।"

"याद है ख़ाक!" अड़ियल चट्टान-सा खड़ा मँझला ज्वालामुखी बन फटता है, "याद ये नहीं है कि जब चुनके भेजा था दिल्ली, तो कैसा खोटे सिक्के जैसा फेर देते थे अपनी कोठी के बाग़ में से तुम पहाड़ी भुस्सों को? ये रामदज्जी, हीरालालजी, हरगोविंदजी अपने-अपने नाती-पूतों की नौकरी लगवाने नहीं गये क्या? ये हरकिशनलाल शाह जी अपनी घरवाली के कैंसर की, सिकाई को उनके ही यहाँ नहीं पहुँचे थे? फिर लौटे नहीं मुँह की ख़ाके? खुद कहते थे चाय की दुकान पर ये कि टा टा करके झंडेवाला जीप में उड़नछू हो जाते थे भ्राता ज्यू अध्यक्ष इनके देखते। आज वही पुनः धरम की ध्वजा हो रहे हैं। आपके और इनके लिए? तुमको उनने कहा मातृभाषा को पूजो। हमारे जैसे चूतियों की हिन्दी माध्यम की शिक्षा देके क्लर्क बना दिया तुम सबने। खुद अपने लौंडों को कौनवेंट पढ़ा-पुढ़ू के अमरीका रवाना कर आये हैं वो।" मँझले का कठोर चेहरा तमतमा उठा था। वह मुड़ा और भीतर धड़ से कहीं का दरवाज़ा भेड़कर कहीं बाहर चला गया।

कमरा कुछ देर स्थिर-अवसन्न बैठा रहा। पीछे के कमरे में खुसपुस हो रही थी। बोज्यू धीमे-धीमे रो रही थी, "क्या करूँ मेरा भाग्य ही खोटा है। मेरा कपाल ही अभागा है। मेरे लौंडे दिनोंदिन बिला नौकरी बिगड़ रहे हैं। विधायक आते हैं, एडीटर आते हैं, पर

बाँह पकड़ने को कोई नहीं। बड़े से कहो कि भेंट कर आओ करके तो पिछवाड़े से टट्टी के रास्ते बाजार को चला जाता है। मेरी कोई नहीं सुनता, कोई नहीं।"

इसके बाद कुछ देर बातों के प्रयास होते रहे, पर बातचीत कुछ जमी नहीं। महँगाई, राजनीति, बजट हर प्रसंग पर एक निराकार शर्म, एक बदरंग-सी शंका बार-बार शब्दों के पीछे झाँकने लगती थी। बाहर साँझ भी झुकने लगी थी। नीचे कहीं एक शंख बजा—पूऽऽ। एक-एक कर लोग उठने लगे। जैसे कोई गुप्त संकेत फिर आया हो।

सारे लोगों के जाने के बाद बैठक यकायक ख़ाली लगने लगी थी। बोज्यू ने भी उठकर नाक-आँख पोंछकर अपनी दैनन्दिनी की मुहिम सँभाल ली होगी, बर्तनों की खटर-पटर और स्टोव की घर्र-घर्र से लगा। बाहर किसी पेड़ पर नामहीन चिड़ियों का समूह कलरव किये जा रहा था। मुझे लगा चहचहाहट में वह उत्साह और ताजगी नहीं थी जो सुबह-सुबह होती है। एक अजीब-सी क्रूर-कर्कश औघड़ तेजी भरी थी उन सुरों में। या शायद मुझे ही ऐसा लग रहा हो। खिड़की के पास बैठे हिर्दा ने लम्बा कश लेकर सिगरेट का टोंटा बाहर फेंक दिया, "क्या कहता है यार, एक-एक चाय और हो जाए?" उसका स्वर भी कुछ उत्साहहीन खिसियाया-सा हो गया था।

"नहीं यार, अब और नहीं, मैंने टाल दिया। मन नमक की डली की तरह इस उदास-अस्पष्ट कलरव में घुलने लगे थे। कमरे में फिर चुप्पी छा गयी। खिड़की से हटकर कनखियों से मैंने हिर्दा की ओर ताका। खिड़की से बाहर ताक़ता उनका दुबला चेहरा एकदम भावशून्य था ज्यों स्लेट को गीले कपड़े की चिन्दी से पोंछ डाला गया हो।

तनाव दूर करने की गरज से ही मैंने पूछा, "क्या बजा होगा?"

"अँ...?" हिर्दा चौंककर घड़ी देखने लगा।

"सात बजने को ही है। अब तू खाके ही जाना। तेरी बोज्यू, पकाने लगी है। या ऐसा कर कि रात यहीं..."

मैंने सर झटकाकर बात काटते हुए कहा कि दिन का खाना अभी पेट में ही रखा है। दाब के खाया था न? रात होटल में एक प्याला चाय पियूँगा बस। फिर मैं उठकर जूते तलाशने लगा। हिर्दा चुप एकटक देखता रहा, उसने मुँह खोला, शायद वह कुछ कहना चाहता था, पर शब्द नहीं मिले, सो चुप साध गया। मेरे जूते के तस्मे इस बीच बँध ही गये थे, मैंने बाहर को पाँव बढ़ा दिये।

[अक्तूबर, 1991 : हंस]

लड़कियाँ



जिस दिन हम लोग माँ के साथ नानी के घर रवाना हुए, बाबू ने एक सुराही फोड़ी थी पता नहीं जान-बूझकर या अनजाने में। पचाक। तमाम पानी-ही-पानी कमरे में फैल गया था। माँ ने धोती ऊपर कर पैर रखते हुए, दूसरे कमरे से कान लगाए सुन रही सरू की माँ से कहा था कि जरा पोंछा ले आये, तमाम पानी-ही-पानी हो गया है और उनके पीछे पैर-वैर रपट कर किसी की हड्डी-पसली चटक गयी तो एक और मुसीबत।

माँ को वैसे भी हर चीज़ के अन्त में मुसीबत ही नज़र आती थी। हम लोग घर में होते तो मुसीबत, स्कूल में होते तो मुसीबत, बीमार होते तो मुसीबत, भले-चंगे उछलते-कूदते होते तो मुसीबत—पोंछा लगाती सरू की माँ ने सिर तनिक टेढ़ा करके माँ से पूछा था कि इस फेरे तो तीनेक महीने रहोगी-ही-रहोगी, न! माँ ने, जैसा कि इन दिनों उसकी आदत हो गयी थी, जाँघों पर हाथ रख कर वजन तौला और काँख कर बैठते हुए कहा कि हाँ, उससे पहले वे लोग आने देंगे थोड़े ही ना, "जा बाहर खेल" यह अन्तिम

आदेश मेरे लिए था, जो हमेशा की तरह हर गलत मौके पर हैरतअंगेज ढंग से किसी कोने में हाजिर पायी जाती थी।

कमरे से टूटी सुराही का एक टुकड़ा चूसने के लिए सफ़ाई से उड़ा कर ले जाते मैंने सुना कि माँ, सरू की माँ, या जाले लगी छत से कह रही थी कि इस बार लड़का हो जाता तो उन्हें छुट्टी होती, बार-बार की मुसीबत...सरू की माँ ने हमेशा की तरह सिर हिला-हिला कर ज़रूर कहा होगा, "क्यों नहीं, क्यों नहीं।"

ट्रेन में मैंने लड़-झगड़ कर खिड़की के पास की सीट हथिया ली थी और फिर दूसरों को जीभ बिराई—ई ऽ ऽ, माँ की नज़र अपनी ओर घूमती पाकर मैंने हिल-हिल कर जपा, "इ से इमली, ई से ईख!" पर माँ का ध्यान इस वक़्त मुझ पर नहीं टिका। उस पर इस वक़्त कई मुसीबतें थीं—बिखरा जाता सामान, डगमगाती सुराही, थकान हम तीनों एक स्टेशन पर खूब मिर्ची के समोसे ख़रीदे तभी एक औरत ने बगल की खिड़की से अपने बच्चे को सू-सू करायी। मारे घिन के मुझसे समोसा नहीं खाया गया, मैंने माँ को दिया। उबले आलू का एक टुकड़ा सीट पर पड़ा था। उसे मसल कर जू-जू कीड़ा बना कर कुछ देर छोटी बहन को डराया। वह चीखी। माँ ने चिकोटी काटी, मैं रोयी। बड़ी बहन ने तब उकता कर कहा, "क्या मुसीबत है!" बड़ी बहन ज़्यादा प्यार करती है। सिर्फ़ वही। बाक़ी सब गन्दे हैं।

स्टेशन पर मामा लेने आये। मैं मामी की बगल में बैठी। मामी पान चबाती थी तो उनके कान की लवों पर माणिक के बुँदे ऊपर-नीचे होते थे। ड्राइवर जितनी बार जीप का हार्न बजाता, हम तीनों बहनें मिलकर चीखतीं—पों ऽ ऽ ऽ। ड्राइवर, हँसा। घर पहुँच कर उसने मुझे और छोटी बहन को गोदी में लेकर जीप से उतारा। उससे चाय और बीड़ी की महक आती थी, उसकी मूँछें बड़ी-बड़ी थीं, और उसकी वर्दी का गरम कपड़ा चुभता था। नींद आती थी। उतारने में सुराही फिर लुढ़क गयी, पानी फैल गया, मुझे बाबू की

याद आयी। और मैंने छोटी बहन की चप्पल को ऐसे दबाया कि वह गिरते-गिरते बची। "मुसीबत की जड़!" माँ ने दाँत भींच कर ऐसे कहा कि कोई और न सुने और मुझे हाथ से पकड़ कर औरों को ऐसी दिखाया, जैसे मुझे सँभाला हो, पर सचमुच में इतनी ज़ोर से भींचा कि कन्धा दुख गया। मुझे बाबू की याद आयी। नानी के घर आने में हमेशा यही होता है। बाबू तो साथ आते नहीं, और यहाँ आते ही माँ भी मौसियों, मामियों, नानी और पुरानी नौकरानियों के बीच एकदम ही गुड़प। दिन में उसके पास भी जाना चाहें तो कोई-न-कोई टोक देता है, "यहाँ तो बेचारी को आराम करने दो।" माँ भी कैसा बेचारीवाला चेहरा बना लेती है, जैसे वहाँ हम लोग उसे काट खाते हों! धत्! नानी के घर में घुसने से चिढ़ होने लगी, मैं झाड़ियों के पास जान-बूझ कर ठिठकी। झबरा कुत्ता आया, उसने मुझे सूँघा। तभी भीतर से किसी ने मेरा नाम लेकर कहा, वह फिर कहाँ रह गयी! मैं और कुत्ता साथ-साथ घर में घुसे।

नानी, मामा के लड़के को गोद में लिये बैठी थीं। उन्होंने कुत्ते को दुत्कारा। वे जानवरों की छूत मनाती थीं। कुत्ता पूँछ नीची कर निकल गया। उसे दुत्कारे जाने की आदत थी। मुझसे कहा गया कि पैर छुओ, ऐसे नहीं, ऐऽ सेऽ। अरे, लड़की का जनम है और ज़िन्दगी भर झुकना है तो सीऽख ही लो। नानी ने मेरी पीठ पर हाथ फेर कर कहा कि उहुंक, ये नहीं बढ़ी लम्बाई में तनिक भी। आठ की कौन कहेगा इसे?

मैंने मामा के लड़के को चिकोटी भर ली। वह बेवकूफ़-सा तब भी मेरे पीछे घूमता रहा। गोरा-गोरा, प्यारा-सा। वह उम्र के लिहाज से लम्बा जा रहा था। पाँच का था, सात का लगता। "कहानी सुनाएगी रात को?" उसने मुझसे पूछा।

"नहीं," मैंने कहा और झूठ-मूठ अख़बार पढ़ने लगी।

"क्या मुसीबत है!" माँ कह रही थी और पड़ोसन नानी कह रही थी कि "लली की माँ, इस बार तो लली के लड़का ही होगा, चेहरा

देखो, कैसा पीला पड़ गया है लली का, लड़कियों की बेर कैसी सुरख गुलाब लगती थी।" "क्याऽ पता, इस बार भी।" माँ ने कहा, और बेचारीवाला चेहरा बना कर नाखून खोंटने लगीं। "वहाँ रोटी-पानी को कोई है तेरे कर्ता के!" पड़ोसन नानी पूछ रही थीं। मुझे बाबू की बहुत याद आयी। बाबू से कितनी साफ़ खुशबू आती थी ना! उनकी गोद गुलगुली थी। माँ इधर ज़्यादे देर गोद में नहीं लेटने देती, कहती है—"उफ् हँटि-माँटे (??) एक कर डाले," साड़ी मुसड़ दी सो अलग, अब उठ भी, ढेरों काम पड़ा है मेरा। ऊपर से ये मुसीबत औ ऽऽर। उठ।" नानी ऊपर को हाथ जोड़ कर कहती है, "हे देवी, मेरी लाज रखना, इस बार ये मायके से बेटा लेकर जाये।" फिर वे आँखें पोछती हैं।

मैंने कनखियों से बहनों को देखा, वे सो गयी थीं। जहाँ हम सोये थे, वहाँ काठ की दीवार से बड़े से कमरे के बीच में दो हिस्से किये गये थे। जहाँ मेरा तखत था, उसके ठीक ऊपर, एक बड़ी दीवाल घड़ी टिक-टिक करती थी, घंटे बजाने से पहले उसमें एक गहरी सुरसुरी आवाज़ आती थी, जैसे छोटी बहन पुक्का फाड़ कर रोने से पहले ऊपर साँस खीचती है। सब बत्तियाँ बन्द हैं, कमरे में बस चाँद का उजाला है। तुलसा दाई माँ के तलवों में तेल ठोंक रही है, और कह रही है, "इस बार लड़का होगा तो स्टेनलेस स्टील की जरीवाली साड़ी लूँगी, हाँऽ।"

चाँदनी में माँ का चेहरा नहीं दीखता, बस ढोल जैसा पेट दीखता है। माँ की साड़ी खिसक गयी है। तुलसा कोई दुखती रग छूती है तो माँ हल्के से गुँगुआती है, घर लौटती गायों की तरह। "अबकी लड़का हो जाता, तो छुट्टी होती।" वह फिर तुलसा से भी कहती है। और यह भी कहती है कि अब तू जा, तेरे बच्चे बैठे होंगे—तेल की कटोरी चारपाई के खूब नीचे खिसका दीजो, वरना सुबह बच्चों के पैर से ठोकर लगी तो तमाम तेल-ही-तेल...खराब बात। माँ आधी छोड़ देती है, तो देर तक कमरे में बात तैरती रहती है, घड़ी की टिक-टिक की

तरह। अच्छी बात हमेशा पूरी कहते हैं बड़े लोग, खराब बात आधी ही—ऐसा क्यों? क्याऽ औरत का भाग्य...चुप्पी। अरे तीन लड़कियाँऽऽ चुप्पी। बाहर एक तारा खूब तेज़ चमक रहा है। क्या ध्रुवतारा होगा! बाबू कहते हैं, मन लगा कर पढ़ोगी तो तुम भी, जो चाहो बन सकती हो, ध्रुवतारे की तरह। लड़का तो नहीं बन सकती पर? मैं ढिठाई से कहती हूँ, तो बाबू पता नहीं क्यों धमका देते हैं कि बड़ों के मुँह लगती है। बड़े लोगों को कुछ भी समझ में नहीं आता। बड़ी बहन कहती है, बड़े लोगों का कभी भरोसा नहीं करना चाहिए, अपनी बात सब खोद-खोद कर पूछ लेते हैं, खुद कुछ नहीं बताते।

कोई हमें कुछ नहीं बताता। यहाँ खासकर रात को जब हम सब सो जाते हैं तब यहाँ बड़ों की दुनिया खुलती है, जैसे बन्द पिटारा। मैं जाग कर सुनना चाहती हूँ, पर हर बार बीच में मुझे जाने क्यों नींद आ जाती है। ये आवाज़ किसकी है? खाँसी दबाते कौन रो रहा है? छोटी मौसी? "कुत्ते जित्ती इज्जत मेरी नहीं उस घर में।" वह माँ के बगल में कहीं कह रही है। कहाँ? हैं? कहाँ? मैं पूछना चाहती हूँ। माँ कह रही है कि जी तो उन सबका कलपता है पर उसे निभाना तो है ही। मेरी आँखें बन्द होती हैं।

"निभाना क्या होता है माँ!" मैं सुबह पूछती हूँ। सब लोग नाश्ता कर रहे हैं। मैं कहती हूँ कि वो वाला निभाना जो छोटी मौसी को चाहिए। मुझे एक तमाचा पड़ता है, फिर दूसरा; फिर मामी बचाती हैं, छोड़िए भी बच्चा है। "बच्चा-वच्चा नहीं, पुरखिन है," माँ का पेट गुस्से से थिरकता है, "चोरी से बड़ों की बातें सुनती है! जाने क्या होगा इसका!"

"तू भी..." बाहर हौदी के पास बैठी बड़ी बहन बीने फूलों को औंधाती कहती है, "सौ बार कहा नहीं, कि चबर-चबर सवाल मत पूछ। पीट-पीट के मार डालेंगे वो लोग तुझे एक दिन, अगर बहुत पूछेगी तो।" मैं रोते-रोते कहती हूँ, "खूब पूछूँगी, खूब पूछूँगी, खूब पूछूँगी।"

"तो जा के मर फिर।" बड़ी बहन कहती है और समझदारी से नानी के गोपाल जी की माला गूँथने लगती है। ये मेरी लाखों की लक्ष्मी बेटी है, नानी उससे कहती है, मुझे सुना कर अकसर।

दोपहर में मैं छोटे बच्चों को ख़ौफ़नाक डायनों और भूतों की कहानियाँ सुनाती हूँ जो नीचेवाले अखरोट के पेड़ में रहते हैं, और कहती हूँ कि चाँदनी रात में ठीक बारह बजे उठ कर वहाँ जाओ तो वे बच्चों के ख़ून से नहाते दिखाई देंगे। नाक से बोलते हैं वो, नाक से! पहले-पहल तो उनकी बोली भी समझ नहीं आती। बच्चे मेरे पीछे-पीछे घर भर में घूमते हैं। जैसे जादूगर के पीछे चूहे।

दोपहर में बड़ी मामी और माँ हमें खट्टी-मीठी गोलियाँ खाने को पैसे देकर भगा देती हैं। उनका कमरा अँधेरा है, काँचों पर हरा काग़ज़ चिपका है। मामी, माँ, मौसियाँ, नानी, सारे कमरे में औरतें-ही-औरतें पड़ी हैं। हर घड़ी कुछ-न-कुछ खाती हुई। उनकी मुगदर जैसी बाँहें, मोटी-मोटी टाँगे-अधनंगी टाँगे, धारीदार पेट। हमें क्यों कहा जाता है, पैर फैला कर मत बैठो टाँगे दिखती हैं; हैं?

"तुम सब गायों जैसी लगती हो," मैं औरतों से कहती हूँ, पर शायद किसी ने सुना नहीं, फर्श पर तकिया डाले पड़ी छोटी मौसी एक खट्टी गोली हमसे लेकर चूसती हैं और कहती हैं, "हद्द हैं जीजा जी भी!" अचानक कमरे में ठहाके छूट जाते हैं। कौन? क्यों? कैसे? मैं चारों तरफ़ उत्तर को ताकती हूँ—पर यहाँ हमारी किसी को परवाह नहीं, वो सब फिर अपनी बोली बोल रहे हैं। बाहर जाकर मैं खूब ज़ोर से बाहर का दरवाज़ा पीटती हूँ। अब शायद माँ आकर कहेगी एक मुसीबत और—पर कोई भीतर से बाहर मेरी ख़बर लेने नहीं आता।

"हटो," सिर के इशारे से हरी की माँ कहती है, वह ट्रे में ढेरों चाय के गिलास लिये कमरे में जा रही है—"हटो, ये तुम्हारे लिए नहीं हैं, बड़ों के लिए हैं; हटो।" हरी की माँ की नाक मेढक जैसी है, और उसकी भौंहें नाक के ऊपर जुंड़ी हुई हैं। वह हँसती है तो मरे हुए चिमगादड़ की तरह उसके गाल लटक जाते हैं। "हटो ना," वह फिर कहती है।

"नहीं हटूँगी," मैं अड़ जाती हूँ, "पहले कहो, लड़कियाँ अच्छी होती हैं।"

"हाँ-हाँ, कह दिया, चलो-हटो," हरी की माँ कहती है।

"नहीं," मैं कहती हूँ, "ठीक—ठीक से कहो।"

"क्या हो रहा है, हरी की माँ?" अन्दर से मौसी की चिड़चिड़ी आवाज़ आती है, "चाय क्या अगले साल लाओगी?" हरी की माँ मोटी-मोटी भौंहों से मुझे बरजती है, "ये मँझली लली भीतर नहीं... " वह हँसती है तो उसकी मेढक जैसी नाक फुदकती है—फुद्द, फुद्द। अन्दर माँ मेरा नाम लेकर कहती है कि ज़रूर वही कलपा रही होगी उसे। मेरा प्राण खाने को जनमी है लड़की। कोई कहता है, ऐसी हालत में गुस्सा नहीं करना चाहिए।

देर तक घर के बाहर बैठी हुई हवा में उड़ती गौरैयों को देखती मैं सोचती हूँ, मैं गौरेया क्यों न हुई? अच्छा, क्या माँ गौरेया भी चिड़ियों में लड़कियों को कम अच्छा मानती होगी?

"कहाँ गयी?" भीतर से किसी की आवाज़ मुझे ढूँढ़ रही है। मैं जान-बूझ कर दीवार की ओट हो जाती हूँ कि मुझे कोई ढूँढ़ न पाये। कभी। क़हीं। किसी भी तरह। कहीं से वो जादू की सुपारी मिल जाती जिसे मुँह में रख कर जब चाहो अलोप हो जाओ तो मज़े ही मज़े।

रात को कहानी ख़तम कर नानी कहती है कि अब जाओ तुम सब सोने। छोटी बहन सो गयी है। उसे हरी की माँ गोद में भीतर ले जाती है। मैं नानी से पूछती हूँ, क्या मैं नानी के पास सो सकती हूँ? नानी का बदन गर्म और गुलगुला है—नानी की रजाई से इलायची-लौंग की बास आती है, नानी के तकिये के नीचे एक टॉर्च रहती है, उसे लेकर बत्ती बुझने के बाद भी बाथरूम जाओ तो अँधेरे में पैर के अँगूठे में ठोकर नहीं लगती। मामा के सोते लड़के को पास खींच कर रजाई उढ़ाती नानी कहती है, "ना भैया, एक तो ये मुझे छोड़ कर नहीं जाता, फिर दो-दो को मैं कहाँ सुलाऊँगी।" "तू जा अपनी माँ के पास। भला? कल फिर कहानी सुनाऊँगी।" नानी की आवाज़

खुशामद से चुँधी-चुँधी है, जैसा बरगलाते वक़्त बड़े लोगों की हो जाती है। कमरे में बड़ी बहन बिना मेरी तरफ़ करवट लिये कहती है, "सुला लिया तुम्हें?" उसका स्वर गुस्से से काँप रहा है। घड़ी बोलती है टिक-टिक। माँ की नाक बज रही है। सुलाया तुम्हें? सुलाया तुम्हें? टिक-टिक, खर्र-खर्र।

"कहाँ हो। री लड़कियों?" नानी हाथ में रोली की थाली लिये पीढ़े पर से पुकार रही है। नानी के सामने एक कढ़ाई में हलवा पड़ा है—थाली में ढेरों पूरियाँ। अष्टमी की सुबह है। नानी के आगे चटाई पड़ी है। "आओ, टीका लगवा लो।" नानी आरती में कपूर जलाती है, "आओ, आरती कर दूँ तुम्हारी।" मेरी दोनों बहनें और मामा की सुन्दर लड़कियाँ नानी के आगे फसकड़ा मार कर बैठ गयी हैं। नानी उनके टीका-अक्षत लगाती है, घंटी बजाती है। रेल के गार्ड की तरह, फिर शंख, पू ऽ ऽ प। मैं इंजन बनकर आँगन की मुँडेर पर भागती हूँ। कमरे में बास है, आरती-कपूर की बास; हलवे की, घी की बास; फूलों की बास—दे-दे पैसा चल कलकत्ता पू-पू-पू। "आजा बेटा, टीका करा ले, तू तो मेरी कन्याकुमारी है ना!" मैं कहती हूँ, "नहीं, मैं तो इंजन हूँ।" मामा का लड़का ताली पीटता है, "आहा जी इंजन! आहा जी इंजन!" तभी डर मेरे पेट में मुट्ठी की तरह सख़्त होता है। माँ मेरी ओर लड़खड़ाती-सी आ रही है। क्रोध से उसका चेहरा भिंचा हुआ है, "मैं बनाती हूँ तुझे इंजन, अभी इसी दम।"

"पागल हो रही हो लली?" पड़ोसन नानी, माँ का हाथ पकड़ कर मुझे आँखों से कहना मानने को कहती है, "बच्चा है वो—कन्याकुमारी ठैरी, आज अष्टमी हुआ। देवी का दिन, आज के दिन कन्याकुमारी पर हाथ नहीं उठाना हुआ। सराप-पाप लगता है।" मैं धम्म से मुँडेर से नीचे कूदती हूँ, माँ रो रही है। नानी ने होंठ भींच कर लड़कियों को हलवा-पूरी परसना चालू कर दिया है।

"जा ना," चिड़चिड़ी मौसी कहती है, "क्यों अपनी माँ को रुलाती है ऐसे में?"

"जब तुम लोग लड़कियों को प्यार ही नहीं करते तो झूठ-मूठ में उनकी पूजा क्यों करते हो?" मेरी आवाज़ रुलाई से फटती है, गुस्से में मेरे मन में आता है कि आरती का जलता कपूर निगल कर अपने इस दगाबाज़ गले को दाग दूँ। "क्यों?" मैं फिर पूछना चाहती हूँ, पर रो पड़ने के डर से चुप हूँ। मैं रोना नहीं चाहती। इनके सामने, ख़ासकर।

हरी की माँ ताज्जुब से पंजा गाल पर टिका कर कहती है, "माँ री माँ, सुनो तो इसकी बात? लड़की हो के ऐसा गुस्सा?"

नानी लड़कियों को सवा-सवा रुपया दे रही है, "सवा रुपये में बीस खट्टी गोलियाँ एक साथ ली जा सकती हैं, आने में एक।" इतना दीवार से कह कर नानी मेरी ओर भी रुपये के नोट में लिपटी चवन्नी बढ़ाती है। नानी के अँगूठे की नोक पर रोली का निशान खून का धब्बा जैसा लगता है। मैं दीवार की ओर पीछे हटती हूँ। "मुझे नहीं चाहिए इन औरतों का हलवा-पूरी, टीका, रुपया। "मैं देवी नहीं बनूँगी!" मैं चिल्लाती हूँ, इतनी जोर से, कि आँगन में बाजरा चुगते कबूतर तक फटफटा कर उड़ जाते हैं। ज्यों कहीं गोली चली हो।

बचुली चौकीदारिन की कढ़ी



बचुली चौकीदारिन ने बाहर आकर अपनी चुँधियायी सलेटी बीनाई ऊपर गाड़ दी। चमकते आसमान के ओने-कोने में चिपके राख-रंगी बादल ऐसे लगते थे जैसे फूहड़ की माँजी कढ़ाई हो। क्या पूछना, दोपहर तक फिर ये ही सिरफुट्टे बादल पूरे आसमान में छा जायेंगे। बाज़ार जाने से पहले गुदड़ी-कथरी-दरी भीतर कर देनी होगी। कहीं एक बौछार भी लग गयी तो हफ़्ते-भर को थरथराट पक्का, गीली गूदड़ी हो, तो रात को बन्दर की तरह दाँत किटकिटाके ठंड शरीर पर दौड़ती है। धूप नहीं लगाओ, तो खटमल-पिस्सू रात-भर सोने नहीं देंगे। गूदड़ बाहर फैलाकर बचुली आमा ने मैली धोती की खूँट से बुढ़ाती आँखों की धुन्ध पोंछने की कोशिश की। एक लपोड जो क्या है उसकी जान को? बीमार बच्चे का साथ, और लड़कियों जैसे गीले हाड़। रात-भर बगल में सोये बच्चे की छाती के भीतर चूचाट-घुरघुराट कैसा था, जैसे गाड़ (पहाड़ी नदी) में घट (पनचक्की) चल रहा हो। रात-भर साँस को छटपट-छटपट, आमा-आमा करता अब जा के जरा नींदिया गया।

...ली पतीली में दलिया घोंटने लगी।

पड़ोस की किसी दयावती ने कटोरी भर दलिया दे दिया था—"पुरानी थैली थी बुबू (बुआ जी), उठने में फट गयी। थोड़ा गर्दा जैसा आ गया है, पर जरा, धो-फटक के तुम्हारे सुरिया के खाने लायक ठीक हो जाएगा।" अच्छा हुआ इन दिनों स्कूल बन्द था। ...णी बुबू ने छुट्टी की दुपहरियों में आँखों की बची-खुची जोत ...ट गर्दा, बाल और जो-जो निखद्द करकट दलिये में आ गया था, बीन-फूँककर तुरन्त उड़ा दिया। अन्न ब्रह्म ठहरा जी, एक भी दाना ...कर फेंको? हाथी को मन चींटी को कन सब उसने दिया ठहरा। दलिया खदखदाने लगा था। तखत पर लेटा सुरिया तनिक हिला—"क्या पका रही है आमा?"

"दलिया हो गया तेरा, लाऊँ?" बुबू ने पूछा। उहुँक जैसी कुछ आवाज़ आयी और सुरिया ने दादी की ओर पीठ कर ली। बचुली चौकीदारिन की चुँधी-कीचड़-भरी आँखों में आँसू आ गये। दिन-दिन घुल रहा है उसका पोता, ठीक अपने बाप की तरह। काँठे के घुरड़ (हिरन) जैसी डरी-डरी आँखें जैसे पीले हज़ारी (गेंदे) के दो फूल हों। ...क जैसे हाथ-पैर। पंजाबी डॉक्टर कहता है, छाती में पानी भर गया ...कर, रात को कान लगाओ तो छाती के भीतर बलगम च्वाँ-च्वाँ करता है। लहसुन जला के तेल की मालिश करते-करते भी रात ...री की पक्की शासना ठहरीं, जब दौरा पड़ जाये। डॉक्टर यह भी कहता है, कि लीवर भी बिगड़ गया है इसका करके। क्याऽ, लीवर-हीबर कुछ नहीं, बिगड़ा है तो सुरिया की इस निपूती राँड आमा (दादी) का नसीब! अरे, ऐसे करम न फूटे होते, तो इस बारे ...रा के बच्चे के सिर पर महतारी-बाप की छाँही नहीं होती? ऐसे दूसरों के बच्चों की धोवन-उतरन पर, दूसरों के फटे झोले से झड़े अनाज पर पलता ये बच्चा?

"ले लाल, जरा जीभ पर दो बूँद ही सही, टपका तो ले! आहा ...स कैसी खुशबू आ रही—हाट् दलिद्दर मायो..." बचुली बुबू का

अन्तिम उद्‌गार पॉपी के लिए था, जो एकदम खाट के पास आकर गर्म-गर्म दलिये की भाप अपने काले नथनों से सोखती लार चुआने लगी थी।

"दे दो ना आमा, एक चम्मच इसको भी। मेरा मन नहीं है।"

"दऽ, दो ही चम्मच तो राँधा है तेरी जलमुँही आमा ने," बचुली बुबू का गला भर्रा गया—"करम अच्छे होते तो जने क्या-क्या खिलाती तुझे। ले लालो। एक चम्मच मुख में डाल तो ले।" फिर बुबू विस्तार से बताने लगी कि कैसे सुभे-सुभे अन्न पेट में नहीं पड़ेगा तो पित्त चढ़ जाता है, हाँ, फिर। सुरिया ने बड़ी मनुहार के बाद, एक घूँट पिया, फिर सरका दिया—"मन नहीं करता।"

"क्या खाने को मन करता है तब, लालौ?" बुबू के खुरदरे हाथ शीर्ण उसके पांडुजीर्ण कपोलों पर फिरने लगे। सुरिया थोड़ी देर आँखें मूँदे पड़ा रहा, फिर अचानक दादी की ओर उठ गया—"कढ़ी खाऊँगा आमा, कढ़ी-भात। पीली, खट्‌टी-खट्‌टी कढ़ी बना के उसमें अखोड़ (अखरोट) बरोबर पकौड़ी भी डाल दे! तब खाऊँगा। है ना पॉपी?" पॉपी का स्नेहहीन मरुभूमि-सा अस्तित्व प्रेम की इस बौछार से एकदम हरी बनराई हो गया।

"हैं हैं, सत्यानाशी, अभी गिरा दिया था पतीला तमाम..." बुबू ने सक्रोध पतीला सरका दिया, और कमरा समेटने लगी। समेटने को था ही क्या? एक हरे रंग का अधपिचका ट्रंक, जो सुरिया की माँ के ब्याह में आया था, दो-चारेक कनिस्तर, कालिख खाये चार बरतन, एक यह झिलंगी चारपाई और उसके नीचे छापरी में पड़े बुबू के दो-चारेक धींगड़े। थाती कहो समान-बस्त कहो, मिल्कियत कहो, यही हुई बुबू की कुल्ल निधि!

बचा-खुचा दलिया सुड़ेककर बुबू ने एक उसाँस ली और धीमे-धीमे जकड़ी देह को खोलती कथरी-गूदड़ समेटकर बाहर आ गयी—"आमा!" सुरिया की क्षीण कराह जैसी आवाज़ सुनकर वह फिर भीतर को लपकी—"क्या है लाली?"

"कढ़ी बनायेगी न?" लेटे-लेटे सुरिया ने अपनी कढ़ी जैसी पीली निगाह बुबू के चेहरे पर गड़ा दी।

"हाँ-हाँ लालौ, करती हूँ उसी का उद्यम अब! भात हो गया होगा, उसे उतार के अभी आयी मैं।" भात की पतीली अंगारों पर कर बुबू ने कमरे पर नज़र फेंकी और अपनी जाँठी (लकुटी) दरवाजे के कोने से उठा ली। फटे किरमिची जूतों में फटे पैर घुसेड़कर बुबू चढ़ाई उतरने लगी। घोर चिन्ता से उसका मन भर गया था। कहाँ से पकायेगी इस अभागे के लिए वह पकौड़ी वाली कढ़ी? कम ऐठम चाहिए कढ़ी को क्या? सरसों का तेल चाहिए, बेसन चाहिए, और चाहिए छाछ। छौंक-भर को हींग-जीरा-मिर्च तो तिवारी की घरवाली उसके सिर फेंक भी देगी—पर बाक़ी चीज़-बस्त?

ढाल उतरती बचुली का पोपला थोबड़ा तीव्रगति से बलबला रहा था। तभी उसकी आँखों के आगे खुल्बे मास्टर के बाड़े से झाँकता हरा-हरा कद्दू तैर गया। रोजीना बच्चों को इस्कूल ले जाते बख़त नज़र पड़ती थी उसकी—कौंला फुल्यूड़ा (नन्हा फल)-सा था पहले। रोयेंदार, जैसे नये-नये बच्चे की खोपड़ी हो। धीरे-धीरे वह फूलता गया था। कम-से-कम दो रूपे में बिक जायेगा वह ताज़ा कद्दू, बचुली ने हिसाब लगाया। खुल्बे मास्टर का घर ढाल के बगल में ही था। पर एक दिक्कत यह ठहरी की खुल्बे की घरवाली के तो गरदन में भी आँखें हुईं। हर बखत काम-काज में पिली रहती, तब भी मजाल जो उसके बाड़े की छीमी को भी छू लो। एक-एक तुरई, एक-एक मूली की खबर रखती है वह। खुल्बे मास्टर ने भी उसकी बगिया के बगल में तार खेंचकर एक फाटक जैसा भी कर दिया है। जब-जब धूप निकले, उधड़े ऊन की लच्छियाँ फैला देती है खुल्बे की घरवाली, तार पर, फिर घड़ी-घड़ी उन्हें पलटने बाहर आती है।

"कौ बुबू, बाज़ार को?" हरीदत्त होमियोपैथ चढ़ाई चढ़ रहा था। हाथ का झोला तरकारी से भरा था। क्या पता, गुड़ी-घी भी हो?

हरीदत्त की घरवाली का चौथा परसूत अभी ही हुआ था।

"कहाँ बजार?" बचुली ने फटी धोती माथे पर उकसा ली।

"नीचे जगन हौरों के घर ब्या-काज है अगले महीने, सोंचा काज पूछ आऊँ। अगले हफ़्ते इस्कूल खुल गया तो पक्की डूटी ठहरी चौकीदारिन की। कैसी है अब मुन्नी की इजा?" बुबू ने जच्चा की कुशल पूछी।

"ठीक है, पर झटक जैसी गयी इस बार बामणी," हरीदत्त ने बेशर्मी से पीले दाँत निपोकर झोला हिलाया—"पंजीरी का सामान ले जा रहा हूँ—सोंठ-फोंठ खा के कमर जुड़े उसकी तो बाकी चिल्लर-पिल्लर सँभलें। सुरिया कैसा है? दमा घटा कुछ उसका?" बचुली ने झोले के कोने से झाँकते हरे धनिये के लहलहाते गुच्छे पर आँखें गड़ाये-गड़ाये चेहरे पर बेचारगी पोत ली—"अरे, होना क्या है उसका, वही नित्त की अभूख ठहरी, वही श्वास की दिक्कत। ये हरा धनिया जैसा देख रही हूँ, वही है क्या?" बचुली ने बात को अचानक मोड़कर चीमड़ हाथ बढ़ा दिया। पर हरीदत्त भी चतुर खिलाड़ी था। फुर्ती से उसने बात करते-करते ही झोला परे कर लिया। सदा माँगती ये बुबू आज की जो क्या देखी ठहरी उसकी? "हाँ-हाँ, दो घास के तिनुके जैसी धनिया दी है, भवान सिंह ने पूरे दो रूपे की सब्जी के साथ। कहता है, हलद्वानी से मँगाता हूँ पन्द्रह रूपै किलो। गड्डी की गड्डी फिरी में कैसे थमा दूँ?"

"लबार नम्बर एक का है, और क्या?" बुबू ने पिच्च से बलगम थूक दिया—"देना तो एक पात। उस आफत की गठरी सुरिया ने कढ़ी-कढ़ी लगा रखी है। एकाध के पत्ती उसमें छोड़ दूँगी तो रंगत हो जायेगी।" और हरीदत्त के हाँ-ना करते-करते दो जड़ खेंच ही तो निकाली बचुली के कुशल पंजों ने। जड़ों से उलझी दो हरी मिर्चे। जो नीचे गिर पड़ी थीं, उन्हें भी बुबू ने पोंछकर थैले में डाल दिया।

दो क़दम चलकर बचुली पलटी—"असिल बंसलोचन कहीं मिल जाये तो जच्चा को जरूर घिस कें [illegible] के संग दे देना—और हाँ,

नारियल का पानी—उससे ख़ून साफ़ होने वाला हुआ। खैर, तुझे क्या बताना, तू जानकार ठैरा ही।" हरीदत्त जैसे सुना ही न हो, ऐसी पीठ किये सीधा ऊपर को जाता रहा—लूटे हुए झोले का मुख उसने बटुए की तरह पट्ट च्याप लिया था।

बुबू ने बलगम फिर थूका, और सँभालती हुई लतर के पास थमक गयी। ख़ुल्बे मास्टर का घर आ गया था और हरा कद्दू अपनी चिकनी रंगत से निगाह खींचे जा रहा था। एक जरा-सा झटका-भर चाहिए, बस खुट्क्क, ऐसे अलग हो जाने वाला हुआ, फिर बेल से पका फल। अरे परमात्मा की प्रकरित में कैसी बाड़? कैसा हिस्सा-बाँट? खा ले, जो चाहे? वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखे, नदी न संचे नीर, समझे के नहीं? परमारथ के कारनै साधुन धरा सरीर। बुबू पत्तों को हौले से हटा के कद्दू के नरम चिकने आकार पर हाथ फेरने लगी, तभी जाने कहाँ से ख्योंतार (गोफन से फेंका ढेला) जैसी खुल्बे की बड़ी लड़की सावित्री आ धमकी। "क्या है बुबू," उसने ऊँची आवाज में वहीं से गोली जैसी दाग दी, "कद्दू को खबरदार जो छुआ तुमने। सड़ जायेगा। ओ ईऽऽ..." तुरन्त उसने अपनी माँ को भी गुहार लगा दी। बचुली के सड़े मसूड़े फैल गये—"राम कहो हो, तुम्हारे कद्दू से बचुली चौकीदारिन को क्या करना? कौन बैठा है उसके घर जो इतना खायेगा?" अचानक बचुली की आँखों से धारधारी आँसू बह चले—"अरे एक डेढ़ हाड़ की ये बुड्ढी, डीजल की पुरानी अंजन जैसी, एक वो नहीं खाया-पिया जैसा बीमार बे-माँ बाप का उसका सुरिया! इस आग लगे मुहल्ले के बगीचों के कद्दू-हद्दू, आड़ू-खुबानी खाये तो गाय का रकत पिये ठहरा उन दोनों तरफ़ से, हाँ।"

कूल्हे पर बच्चे टाँगे बच्चों और उधड़े ऊन के गोले बनाती औरतों-लड़कियों का गोल इधर आता देख, सुर तनिक और फट गया—अब बचुली मुहल्ले के सुख-दुख की ऐतिहासिक गहराइयों में उतर रही थी, कि कैसे उसने इसी साबुली की छुट्टी के दिन घोर बुखार से भी उठकर ज्यूँती देवियों को तस्वीर-हस्वीर बना। बुबू के

सवा चार आने, एक किलो उड़द और एक गाँठ हल्दी का नगे पाया था, कैसे उसे स्कूल जाने को हाथ पकड़ के तीन हजार पाँच सौ सतरि दफे गाड़ी सड़क पार करायी ठहरी और आज बदले में कैसे आते-जाते इस तीन बिलस्त की लौंडिया ने बुबू के सफ़ेद पके सिर पर कलंक का टिल्ला टीप दिया, कि बुबू कद्दू-चोर रही है करके। अरे चोरना होता तो बुबू जाने क्या-क्या जो नहीं चोर सकती थी? इसी साबुली की मौसी के पिलडबरू ओभरसियर दूल्हा के हाथ की सोने की घड़ी नहीं खोज लायी। बुबू, नौते से? सत्तरि बरस की बुबू जरा बगल में जाँठी रख के बेल के पास थकाई बिसाने को बैठ गयी, और हाथ कद्दू को छू जैसा गया—तो...

अब तक बुबू की आशानुसार खुल्वे की घरवाली नेपथ्य से रंगपीठ पर आ गयी थी। माँ ने लड़की को आँख के इशारे से किया, और स्थिति की गम्भीरता भाँपकर चौकीदारिन की क्रोधाग्नि पर छींटे देने लगी—"आओ हो बुबू, ये लड़की तो ऐसी ही मोटी अक्कल की ठहरी। क्या, इसकी मत लाना मन में। बालक बन्दर एक सुभाऊ ठहरे। आओ एक घुटुक चाय पी लो।" अन्तिम वाक्य कान में पड़ते ही बिना सुर-ताल के आँख-नाक पोंछ, बचुली जाँठी टेक कर उठ खड़ी हुई और लँगड़ाती हुई घर में प्रविष्ट हो गयी। थोड़ी देर बाद वह ढाल उतर रही थी और उसके झोले के भीतर साबुली की रफ कॉपी के पन्नों में बँधी एक पुड़िया भी आन बैठी थी। धनिया-मिर्च हो गये, बेसन हो गया, अब करना होगा तेल और छाछ का परबन्ध।

बुबू ने नजर सीमेंट के रंगे-पुते नानक निवास पर गड़ा दी। हरमिन्दर-परमिन्दर की माँ फूल कौर बाहर अपनी पछाँही भैंस को पलास-पलासकर मग्गे से धो रही थी। दूध-पूत से भरा घर ठहरा सरदारनी का! चमकीले-हमकीले कपड़े जो पहने, दिल की अच्छी ही हुई। बुबू ने लँगड़ाती चाल से भैंस वाली दिशा पकड़ ली। स्वभाव से

ारी नहीं ठहरे सरदारनी भी, सरदार भी। पर इधर जब से बात-बात में 'हिन्दू-सरदार, हिन्दू-सरदार' करने लगे थे शहरवाले, तब से खेंचे-खेंचे से रहने वाले हुए दोनों पराणी। होली-दीवाली पर भी इस बार सांट खेंच गये थे दोनों, नहीं तो पहले हँसी-मज़ाक, परशाद, शरबत पिलाने ही वाले हुए।"

"आज यहाँ कैसे बुबू?" फूलकौर ने ही दुपट्टे में हाथ पोंछते सवाल किया, और आँगन में पड़ी खाट में बैठकर बुनाई मशीन खुटुक-खुटुक करने लगी। बचुली ने कनखियों से ताका। घर वही ठहरा, वैसा ही, पर चुप्प-गुम्म जैसा ठहरा सब—"अरे कहाँ जायेगी बचुली बुबू बीमार बच्चे को छोड़ के। यही सोची, कल-परसों इस्कूल खुल जायेंगे तो फिर मरने की फुरसत नहीं होगी। आज जरा झाँक के कुशल-पात ले लूँ सबकी। किलास खुले तो दिन-भर की डूटी पक्की हुई। सुबे-शाम को घर-बस्त और उस अभागे सुरिया का भी करना ही हुआ।" बचुली ने धोती की खूँट से आँखें पोंछते कनखियों से ताका।

"रब्ब दी मर्जी है, और की?" फुलकौर ने उदास आँखों से फन्दे खोल और ऊन समेटने लगी—"कोई भ्रोसा नहीं किसी बात का जिन्दगी में बुबू जी, क्या पता कब कौन रिफ़्यूज़ी बन जाये फिर से।"

बचुली को तो उम्मीद थी कि सुरिया की बीमारी पर लाकर छोड़ी—उसकी तकलीफ़ की बात से—सुरिया का सुक्ख तो ज़रूर ही पूछेगी सरदारनी, और तब वो जरा कुरमुरा-कुरमुरू के एकाधक गिलास छाछ का माँग लेगी करके। पर यहाँ तो सरदारनी ही खुद अपना दुक्ख दे बैठी, खैर जब तक साँस तब तक आस। बचुली ने चर्चा चालू रखा—"पर धन शाबाशी ठहरी हो तुम लोगों को भी, जो हमारे जैसे हाथ-पैर छोड़ के नहीं बैठ गये—तभी तो कहने वाले हुए के सरदार दे पुत्तर शेर दे पुत्तर करके! शेर ठहरे, शेर हो! कारिंदा आदमी कहो, कि पुरुषारथी कहो। आहा, तभी कैसे झकाझक कर दी अपने बाहुबल से गृहस्थी—और तू भी वैसी ही मिली ठहरी!

भगवान बरक्कत दे तुम लोगों को! ये क्या बच्चों के इस्कूल का पुलावार बुन रही है? इन मरी आँखों में तो जैसे बादल जैसा पड़ गया है, रंग-हंग कुच्छ सूझने वाले नहीं हुए। पर आहा डिजैन खूब ही उतार रखा है, वाह!"

सरदारनी आज सचमुच अनमनी थी—कुछ क्षण चुपचाप मशीन चलाती रही। बचुली ने उकताकर अन्तिम तीर छोड़ा—"अच्छा, फिर तू अपना काम-हाम कर, मैं भी चलूँ—इधर से गुजर रही थी, कहा सुक्ख पूछ लूँ। भैंस दूध-हूध अच्छा दे रही है?"

..."हंजी," सरदारनी ने मशीन तनिक ठेली—और उठ खड़ी हुई—"एक गिलास चा-शा पीयोगी?"

बुबू ने तुरन्त जाँठी टिका दी, और फिर पसरकर सविस्तार बताने लगी कि कैसे आजकल चाय पीने से जने कैसी अगिन जैसी लग जाती है छाती-पेट में। हरदत्त होमियोपैथ का कहना है, कि खुसकी है खुसकी—दूध-मट्ठा खाना चाहिए—पर अहा, गरीब का पेट तो सदा जठराग्नि से जलता रहने वाला हुआ—कहाँ से लाये वह घी-दूध? अरे नक्ख (नाखून)-भर छाछ मिल पाती तो उस अभागे सुरिया के सिर कटोरी-भर कढ़ी पका फेंकती, प्राण खा रक्खे हैं लौंडे ने—कढ़ी खाऊँगा, कड़ी खाऊँगा करके।

चन्द क्षण बाद धोती के खूँट से पूँछती बचुली की बची-खुची आँख ने एक हर्षित धुँधलके के बीच हरमिन्दर को काँसे का बड़ा गिलास लाते देखा। आनन-फानन बुबू के तिलस्मी होशरूबाई झोले से एक बोतल भी निकल आयी। झोला खोलती-समेटती बुबू ने असीसों की झड़ी लगातार लगाये रखी कि सरदारजी को रब्ब बड़ी-बड़ी बरक्कतें दे, हरमिन्दर-परमिन्दर को छह हाथ ऊँचे ये गबरू मूँछों वाले मिलें और पछाँही भैंस को हर बरस बछिया! अहा, सरदार लोग सरदार ही होने वाले हुए, तभी भगवान् दूध, दही की नदियाँ बहाने वाले हुआ उनके मुलूक में।" जलने वालों की आँख में झक मिर्च-राई और सिसूण के चुभने पात भरकर बचुली बुबू छाछ की

बोतल समेत विदा हुई।

अब रह गया था तेल। जरा जल्दी भी करनी होगी, वरना बीमार की भूख को अभूख होने में देर जो क्या लगती है? चले, जगन जोशी के यहाँ। लछमी की किरपा से खूब ही जम गयी है कमला के घरवाले की सुरा टॉनिक की अजंसी। पहली जेठी बेटी का ब्याह है, तेल-घी कटरों में नहीं आया होगा क्या? सूरा के धन्धे में तो मुनाफे ही मुनाफा हुआ। खुलेआम कलाली करो, पर पकड़े जाने की झस-झस जैसी रत्ती भर नहीं ठहरी। अहा, यही पी-पी के तो सुरलोक गया था अभागा सुरिया का बाप! कोठी देखकर बचूली बुबू के सर्वांग में सिसूण के चुभने पात जैसे लग जाते हैं। कोई कहता है चूहामार दवा भी मिलाते हैं इसमें करके। नस्सा तगड़ा करने को। जहर मिलाते लोग हो, वर्ना ऐसा लम्बा-तगड़ा गबरू जीवानन्द उनका ऐसा काँटा जैसा हो के ख़तम होता? सुरा से लीवर जल गया है इसका करके कहा था पंजाबी डॉक्टर ने। क्या हो, निमित्त हुई यह सुरा भी! कोई कहो कि बारै बरस के सुरिया को फेफड़े की बिमारी कौन-सी सुरा ने लगायी है? क्या करे इन पर गुस्सा करके भी बुबू? अपना ही नसीब खोटा हुआ उसका, और क्या? बुबू जाँठी टेकती कोठी में घुस गयी। बिना बीन-फटक के चुपचाप जोशी जी की घरवाली से शीशी भर तेल माँग लेगी। बाकी परबन्ध हो ही गया है पक्का, और क्या?

झोला-अंतर सँभालती बुबू आँगन में घुसी तो सबसे पहले दुम हिलाती पॉपी ने स्वागत किया। झीसे बादलों के झुंड धूप को दीमक जैसे चाट गये थे। "हात्तेरे की!" बुबू ने जाठी से पॉपी को धमकाया, और [illegible]-दरी समेटने लगी। सुरिया चुपचाप फिर जाकर लेट गया था।

चूल्हा जलाती, कढ़ाई चढ़ाती बुबू सविस्तार बताती जा रही थी कि कैसे हरदत्त जैसे कंजूस मक्खीचूस तक से हरा धनिया-मिर्ची और बाकी लोगों से घी-तेल-छाछ जुटा ही लिया उसने। फात्! फात्! फात् बेसन फेंटकर बुबू के शीर्ण पोर झार फेंकते सरसों के तेल में पकौड़ी

छोड़ने लगे। बस लालौ, ये छोला बेसन और वो थाली लेकर उठी ही थी, कि फटी धोती में उसका पैर जा फँसा, और थाली झन्न-झलाक! सामने दीवार से सुदरशन चक्र जैसी जा टकरायी! हाय-हाय-हाय! तमाम दीवार और फर्श पर कढ़ी-भात ही कढ़ी-भात!

"ऊँ-ऊँ! गेर दिया तूने मेरा कढ़ी-भात!" सुरिया ठुनकने लगा था! बचुली ने एक जबरन हँसी पोपले गालों पर चिपका दी—"अभी और है लालौ! कढ़ाई भर छोली है तेरे लिए आमा ने कढ़ी कम जो क्या?"

"कहाँ है? वो तो तेरे हिस्से की है ना?" सुनिया ने तनिक उठंगकर पतीलों का दारिद्र्य भाँप लिया था।

बुबू, आज कैसा जो अफारा हो रहा है, कि क्या जो कहूँ?—बुबू एक लम्बी कथा कहने लगी, कि कैसे पहले हरदत्त की घरवाली ने जबरन अपने हिस्से का गोंद-पाक खिला दिया, फिर साबुली की इजा ने चाय और खजूर कोंचा दिये, फिर सरदारनी ने मक्का की रोटी च्याप दी हथेली पर कि बचुली बुबू बिन खाये तुझे नहीं जाने दूँगी। क्या करती।

सरदारनी के जुड़े जित्ते बड़े मक्खन की पिंडी रखकर अपने सिर की क़सम जो दे दी उसने।

सुरिया अन्तिम उपमा पर हँस पड़ा, तो बुबू ने बाक़ी भात-कढ़ी सानकर निवाला चट्ट करके मुँह में दे दिया—"ले लालौ, खा ले, जी रै, बचि रै, कढ़ी क्या, तू ठीक हो जा फिर देखना कैसे किसम-किसम के ऐठम बनाकर खिलाती है आमा!" जबरन विकृत मुख कर बचुली बुबू ने एक डकार ले ली—"बुबू, बुड्ढों को इतना खाने का लालच नहीं करना चाहिए हो! हरी ओऽम कहो! जुलुम ही भर गया आज तो बचुली राड़ का पेट!"

□□